विवेक शिखा

श्री रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-धारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१ जुलाई—१९८२ अंक—७

रामकृष्ण निलयम, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार)

यह अंक

आषाढ़ की पूर्णिमा गुरु-पूर्णिमा के रूप में हिन्दू साधकों द्वारा सर्वत्र मनायी जाती है। उस दिन सभी आध्यात्मिक गुरु अपने शिष्यों के आत्मोत्कर्ष के लिए अपने आशीर्वाद का मुक्त भाव से मंगलमय अमृत-वर्षण करते हैं। इसी संदर्भ में सम्पादकीय सम्बोधन में गुरु-महिमा और शिष्यत्व के उन्मेष पर विमर्श किया गया है जो प्रारम्भिक साधकों के लिए विशेष मननीय है।

परमहंस श्रीरामकृष्ण देव विश्व के अन्यतम गुरु हैं। उनके जीवन की शैशवावस्था में ही उनमें गुरु-भाव का उद्रेक हो गया था। भगवान श्रीरामकृष्ण ने अपने शिष्यों के आध्यात्मिक उन्नयन के लिए अपनी गुरुत्व-शक्ति का बड़े वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक ढंग से सूक्ष्म प्रयोग किया था। इसी प्रसंग में श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ-अनुरागी छपरे के श्री उमेशचन्द्र ने 'परमहंस श्रीरामकृष्ण देव एवं गुरु-तत्त्व' नामक लेख में श्रीठाकुर के गुरु-भाव पर अपना अध्ययनपूर्ण विचार प्रस्तुत किया है।

भगवान श्रीरामकृष्ण के साथ मनुष्य एक विशेष आध्यात्मिक जागरण के सन्दर्भ में ही अपना सम्पर्क स्थापित कर पाता है, जैसे एक विशेष संदर्भ में ही अर्जुन श्रीकृष्ण के साथ आत्मिक स्तर पर जुड़ सके। छपरे के विद्वान उपाचार्य एवं श्रीरामकृष्ण देव के अनन्य अनुरागी श्री शितिकंठ बोधिसत्व ने 'परमहंस श्रीरामकृष्ण देव : संदर्भ एवं संपर्क सूत्र' शीर्षक निबन्ध में अपने उक्त का गम्भीर विश्लेषण किया है। इस निबंध में पाठक एक साधक की दृष्टि, चिंतक की मनीषा और वि[illegible] की प्रज्ञा का एक साथ संगम मिल सकेगा।

'हजरत मुहम्मद' एक महान् आध्यात्मिक सा[illegible] सादगी, सेवा और करुणा की प्रतिमूर्त्ति तथा खुदा के [illegible] प्रिय पैगम्बर थे। ईदुल फित्र के अवसर पर उनके ज[illegible] की दीप्त झांकी प्रस्तुत की है छपरे के ही श्री अवि[nash] गौतम ने। यह जीवन-चरित्र जितना ही प्रेरक है उ[illegible] ही हमारे सर्व धर्म समभाव एवं भावात्मक एकता [illegible] आदर्श के अनुरूप भी।

स्वामी रामकृष्णानन्द श्रीरामकृष्ण के विशिष्ट संन्या[सी] शिष्य थे। स्वामी गंभीरानन्दजी महाराज के निबन्ध 'स्वा[मी] रामकृष्णानन्द' में उनके त्यागमय उच्च संन्यस्त जीवन [के] कई प्रेरक प्रसंग प्रस्तुत हुए हैं। स्वामी रामकृष्णानन्द [की] जयंती के अवसर पर यह निबंध प्रस्तुत किया जा र[हा] है। इसे अनूदित किया है—अविनाश गौतम ने।

श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्दजी महाराज द्वारा [illegible] सारदा देवी का जीवन चरित्र पाठकों द्वारा (विशेष[कर] महिलाओं के द्वारा) बड़ा प्रशंसित हुआ है। इस अंक [में] उक्त जीवन कथा का पंचम अध्याय प्रस्तुत किया ग[या] है। यह अंश भी पाठकों के लिए प्रेरक सिद्ध होगा।

इस अंक में

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१ जुलाई, १९८२ अंक—७

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा' ॥

संपादक :

केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५० रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्री रामकृष्ण ने कहा है

(१)

जैसे रूई के पहाड़ में एक छोटी चिनगारी पड़ जाने पर वह देखते ही देखते जलकर खाक हो जाता है, वैसे ही भक्त के साथ भगवान् का नाम-गान करने पर पर्वत के समान पाप भी नष्ट हो जाता है।

(२)

मन में सदा यह भाव रखना कि घर-द्वार, परिवार इनमें से कुछ भी तुम्हारा नहीं है, सब भगवान् के हैं; तुम भगवान् के दास हो, उन्हीं की आज्ञा का पालन करने संसार में आये हो। यह भाव दृढ़ हो जाने पर वास्तव में किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व-बुद्धि नहीं रह जाती।

(३)

जानकर, अनजान या भ्रम से अथवा और किसी प्रकार से क्यों न हो, श्री भगवान् का नाम लेने से उसका फल अवश्य मिलेगा। कोई तेल लगाकर स्नान करने जाय तो उसका जैसा स्नान होता है, वैसा ही यदि किसी को ढकेल कर पानी में गिरा दिया जाय तो उसका भी स्नान होता है; और यदि कोई घर में सोया हो और उसके वदन पर पानी डाल दिया जाय तो उसका भी वैसा ही स्नान हो जाता है।

पाठकों की प्रतिक्रियाएँ

(१)

'विवेक शिखा' की एक प्रति हमलोग यहाँ मायावती में नियमित रूप से पा रहे हैं। ...मैं हिन्दी में नहीं लिख सकता। अतः मेरी रचनाएँ केवल अंग्रेजी में होंगी। आप उनका अनुवाद कर अपनी पत्रिका में प्रकाशित कर सकते हैं।

भगवान् श्रीरामकृष्ण आप के महत् कार्य के लिए आपको आशीष दें तथा आपकी पत्रिका के माध्यम से उनके संदेशों के प्रचार-प्रसार के लिए अपना अनुग्रह प्रदान करें— यह हमारी उनसे आन्तरिक प्रार्थना है।

आपके महत्तम प्रयास की सर्वतोभावेन सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएँ हैं।

प्रभु की सेवा में आपका

स्वामी अनन्यानन्द

(अध्यक्ष) अद्वैत आश्रम, मायावती, जिला—पिठोरागढ़, (उत्तर प्रदेश)

(२)

कृपया अपनी मासिक पत्रिका के लिए, जो आपके द्वारा प्रारम्भ किया गया एक अनूठा एवं प्रशंसनीय कार्य है, वार्षिक सहयोग-राशि के २० रु० प्राप्त करें। इस राज्य के इस क्षेत्र के निवासियों के हृदय में ज्योति की जिस शिखा को प्रज्वलित करने का कार्य अपने आरंभ किया है वह निश्चय ही सराहनीय एवं सशक्त है। उसी संदर्भ में, इस सहयोग राशि के रूप में एक लघु पुष्प अर्पित है।

डॉ० सच्चिदानन्द पाण्डेय,

प्राचार्य, गोपालगंज कॉलेज, गोपालगंज।

(३)

गत शनिवार को श्रीरामकृष्ण मिशन लाइब्रेरी गया तो 'विवेक शिखा' और 'विवेक दीप' पर नजर पड़ी। आद्योपांत देखा, पढ़ा और इसे नाम के अनुरूप पाया। सचमुच आज ऐसी ही दिव्य और आध्यात्मिक विचार धारा पूर्ण पत्र-पत्रिकाओं की आवश्यकता है जो जन जीवन में नवीन आध्यात्मिक क्रांति का सूत्रपात करे और हमारी दिव्य मानसिक चेतना को विकसित करे।

ऐसी पवित्र और आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन प्रशंसनीय और स्वागतेय है। यह भारतवर्ष की सभ्यता-संस्कृति के अनुरूप भी है। आशा है, हिन्दी का विशाल पाठकवर्ग इसे सादर स्वीकार करेगा। हमारी हार्दिक शुभकामनाएँ स्वीकार करें।

सीताराम सिंह पंकज

सम्पादक—'**विजय ध्वज**' राजभवन, पटना।

(४)

"विवेक-दीप" का अप्रैल-मई-संयुक्तांक देखा। छपरा जैसे शहर से इस तरह की स्तरीय एवं सर्व-समावेशी-सांस्कृतिक पत्रिका का प्रकाशन एक आश्चर्यजनक उद्घोष है। निरन्तर विघटित हो रहे मानवीय-मूल्यों की पुनर्स्थापना करने तथा हिन्दी-पत्रकारिता को व्यापारिक 'सेल' के दर्जे से ऊपर उठाने के इस सत्प्रयास को श्री ठाकुर का आशीर्वाद सतत् मिलता रहेगा, इसमें सन्देह नहीं। हम समग्रत: आपके साथ हैं।

प्रो० सरेश कुमार 'प्रशांत'

हिन्दी—विभाग, लोक महाविद्यालय, (हाफिजपुर) बनियापुर, सारण

श्रीरामकृष्ण—स्तवन

—स्वामी वागीश्वरानन्द
(रामकृष्ण मठ, नागपुर)

[राग—भूपाली : ताल—रूपक]

नाथ तुम भवभयनिवारी
भगतचित-आनन्दकारी ।
प्रेमघन तव करुण आनन
शोकवारण तापहारी ॥ध्रुव॥

र्ण ब्रह्म तुम्हीं सनातन
नित्य निर्गुण निराकारी ।
भक्त कारण देहधारण
भुवनपावनरूपधारी ॥१॥

सुरधुनीतटकरत लीला
दक्षिणेश्वर के पुजारी ।
सिद्धिदाता बने साधक
सर्वधर्ममतानुसारी ॥२॥

कामकांचनलेश-विरहित
घोररिपु बलदलनकारी ।
मोहमायाभ्रम हरो प्रभु
शरण आये हम तुम्हारी ॥३॥

सम्पादकीय सम्बोधन

गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

एक बहुत बड़े युद्ध के मैदान में दोनों पक्षों की अपार सेनाएँ आमने-सामने खड़ी थीं—भयंकर प्राणघाती अस्त्र-शस्त्रों से लैस। नगारों पर चोटें पड़ रही थीं। शंखों से सिंह नाद के समान गगनभेदी निनाद उठ रहे थे। विराट् प्रलयंकर दृश्य था। युद्ध शुरू होने में थोड़ी ही देर थी। जाहिर था कि ज्यों ही युद्ध छिड़ा, लाखों-लाख प्राणियों का अंत तुरंत होगा। कितने ही पराक्रमी शूर-वीर धरती से उठ जायँगे। रक्त की सरिता में उनकी लाशें तैरेंगी। सुहागिनियों की माँगों से सिन्दूर धुल जायगा। बहनों की राखियाँ झुलस जायँगी। माताओं की गोदें सूनी हो जायँगी। बच्चे बिलला कर क्रन्दन करने लगेंगे। पृथ्वी आकुल चीत्कार से भर उठेगी। यही सोचकर एक पक्ष के एक प्रबल धनुर्धर और पराक्रमी योद्धा के हाथ काँपने लगे, पाँव लड़खड़ाने लगे और माथे में चक्कर आने लगा। उसके हाथ का वाण गिर गया और युद्ध न करने का निर्णय लेकर, गंभीर विषाद में डूबा और हताशा से भरा हुआ वह धनुर्धर अपने रथ के पिछले भाग में जाकर बैठ गया।

उस धनुर्धर का एक परम मित्र भी वहीं उसी युद्ध क्षेत्र में था। सच तो यह है कि वही मित्र उसके रथ का चालक—सारथी भी था। सच्चा मित्र अपने मित्र के जीवन-रथ का सारथी हो ही जाता है। सो, उसे अपने मित्र की, युद्धक्षेत्र में उत्पन्न हुई नपुंसकता पर दया हो आयी। उसने अपने मित्र से उसके दैन्य का, मानसिक दुर्बलता का, गहन विषाद का कारण सुन रखा था। स्वभावतः उस युद्ध भूमि में ही उस मित्र ने अपने भग्न-हृदय, हताश मित्र को जीवन-मरण के सारे रहस्य खोल-खोल कर करुणा पूर्वक समझाये और अंत में कहा—

> सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः।
> इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ [1]

यानी संपूर्ण गोपनीयों से भी अति गोपनीय मेरे परम वचन को तुम सुनो, क्योंकि तुम मेरे परमप्रिय हो। और इसी कारण मैं तुमसे कहूँगा कि तुम सर्वात्मना, पूरे मन से, मेरे हो जाओ, मेरे भक्त हो जाओ, मेरी उपासना करो और मुझे नमस्कार करो। ऐसा करके तुम मुझे ही पाओगे—यह मैं प्रतिज्ञा पूर्वक तुमसे कहता हूँ, क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हो।

अपने मित्र की ज्ञान, रहस्य और आश्वस्ति से सनी वाणी को सुनकर हताश मित्र के विषण्ण मन में आशा का नया सूर्योदय हो गया। प्रसन्नता का कमल खिल गया। एक गजब का चमत्कार हो गया। वह तो तत्क्षण पूरा का पूरा बदल गया। उसका आमूल-चूल रूपान्तरण हो गया। एक सम्पूर्ण क्रांति हो गयी। यद्यपि वह अपने मित्र के साथ काफी लम्बे अर्से से रहता था मगर उसने अपने मित्र का यह रूप—यह परम ज्ञानोज्वल ईश्वरमय रूप—इसके पहले कभी नहीं देखा था।

धनुर्धर का नाम अब तक आप जान चुके होंगे—अर्जुन था और उसके मित्र का नाम श्रीकृष्ण।

अर्जुन ने अब तक अपने मित्र को मात्र एक मित्र के रूप में, एक परम आत्मीय सखा के रूप में देखा था। अब उसे लगा— वह (श्री कृष्ण) उसका मित्र ही नहीं, उसका परम गुरु भी है और वह स्वयं उसका शिष्य। उसने बड़ी

1. श्री मद्भगवद्गीता १८। ६४-६५

विनम्रता से कहा—'हे अच्युत, आपकी कृपा से अब मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे शाश्वत स्मृति उपलब्ध हो गयी है। अब मैं निःसंशय हो गया हूँ और आपके वचन का सदैव पालन करूँगा।'—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥[2]

एक राजकुमार भरी जवानी में अपना विशाल राज पाट, अनिंद्य सुन्दरी पत्नी और कुसुम-कोमल पुत्र छोड़कर सत्य की खोज में निकल पड़ा। पूरे सात वर्षों तक वन-वन भटकता फिरा। अनेक यतनाएँ झेलीं। कठिन तपस्या की। फिर उसे ज्ञान हुआ। सत्य की उपलब्धि हुई। जीवन-मरण का भेद खुला। राज कुमार के चिंतित पिता को पता चला कि उसका पुत्र ज्ञान प्राप्त कर राजगृह में ठहरा हुआ है। उसने अपने पुत्र को बुला लाने के लिए अपने मंत्री को एक हजार आदमियों के साथ भेजा। पर वे लौट कर नहीं आये। उनका कोई पता नहीं चला। फिर राजा ने एक-एक कर नौ सरदारों को और भेजा। प्रत्येक सरदार के साथ एक-एक हजार आदमी। पर वे भी कहाँ रह गये, किसी को पता नहीं चला। अंत में राजा ने अपने एक परम विश्वसनीय व्यक्ति 'काल-उदयिन' को भेजा। उसने राजगृह जाकर देखा—जितने मनुष्यों को राजा ने भेजा था, सब के सब उस राज कुमार के अनुयायी हो गये थे, गेरुआ वस्त्र पहन कर भिक्षु बन चुके थे।

आप जान गये होंगे, राज कुमार भगवान बुद्ध थे और राजा का नाम था शुद्धोदन। क्या हो गया था इन मनुष्यों को? बुद्ध के समीप जाते ही सब का जीवन रुपान्तरित हो गया था। संसार उन्हें फीका और निःसार लगने लगा था—सत्य के सहस्रों सूर्य उनके समक्ष एकबारगी चमक उठे थे। उनके जीवन से राख झड़ गयी थी। ज्ञान की अग्नि शिखा धधक उठी थी। अब वे लौटकर फिर देह की दुनियां में, भोग-विलास और स्वार्थ की दुनिया में क्या और क्यों लौटते!

एक महापुरुष गैलीली के सागर-तट पर चले जा रहे थे। उन्होंने उस समुद्र में दो मछुआरे भाइयों को मछली मारते देख कर उनसे कहा—'मेरे साथ आओ, मैं तुम्हें मनुष्यों का मछुआरा बनाऊँगा।' और उन दोनों भाइयों ने तुरत अपने जाल फेंक कर उनका अनुगमन किया। महापुरुष थे ईसा मसीह और मछुआरे पीटर तथा एंड्रयु। बाद में ये दोनों ईसा के महान् शिष्यों में अन्यतम सिद्ध हुए। क्या हो गया था इन दोनों को ईसा की बातें सुन कर! पूरा रूपांतरण। पूरा बदलाव। विगत का विसर्जन और अभिनव जीवन का अवतरण।

कलकत्ते के दक्षिणेश्वर मंदिर के प्रांगण में स्थित अपने कमरे में एक परम पुरुष बैठे थे। एक युवक उनके सामने आया। उसे कई रातों से नींद नहीं आयी थी। वह बेचैन था। वह ईश्वर के विषय में जानना चाहता था कि वह है भी या नहीं। यदि है तो किसी ने देखा है क्या! यदि देखा है तो क्या वह उसे दिखा सकता है! यही उसकी चिन्ता और विकलता के विषय थे। युवक ने अपनी सारी चिन्ताएँ निष्कपट भाव से उस परम पुरुष के सामने उड़ेल दीं। परम पुरुष ने आश्वस्ति के स्वर में उत्तर दिया—'ईश्वर है, उसे मैंने देखा है, जैसा मैं तुम्हें और तुम मुझे देखते हो। बल्कि उससे भी ज्यादा स्पष्टता से। कोई भी उसे देख सकता है। पर कौन देखना चाहता है? पत्नी और बच्चों के लिए लोग घड़ों आंसू बहा देते हैं परंतु ईश्वर के लिए कौन एक कतरा भी आँसू बहाता है!' यह सुनते ही युवक स्तब्ध हो गया। उसका भ्रम दूर हो गया। वह परम पुरुष के चरणों पर समग्र भाव से समर्पित हो गया।

परमपुरुष थे भगवान श्री रामकृष्ण देव और युवक थे नरेन्द्र जो बाद में विश्वविजेता स्वामी विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुए। रामकृष्ण की वाणी ने नरेन्द्र के जीवन का रूपांतरण कर दिया।

श्रीकृष्ण, भगवान बुद्ध, ईसा मसीह और श्रीरामकृष्ण जगद्गुरु थे और इसलिए इनके सम्पर्क में जो भी आया, बदल गया, अपने शुद्ध स्वरूप में आ गया। उसकी आँखों पर पड़ा पर्दा हटा और सत्य उसके समक्ष साकार हो गया।

---

2. श्री मद्भगवद्गीता १८।६३

सद्गुरु ऐसे ही होते हैं जो शरत पूनो के चन्द्र की भांति शिष्यों का अन्ततपि हर कर शीतलता प्रदान करते हैं, उनके मानसिक रोगों का, औषधि बनकर शमन करते हैं, दुग्ध की भांति अपने उपदेशों से उन्हें स्व-स्थ (स्व में स्थिर) करते हैं और मृत्यु की भांति पूर्व जीवन से मार कर नया जीवन, ज्योतिर्मय जीवन प्रदान करते हैं। ये गुरु मानव देह में स्वयं सच्चिदानन्द होते हैं. परम शिव होते हैं।

इस संसार में दो तरह के लोग होते हैं। एक वे, जिनकी दृष्टि भौतिक होती है। उनकी माँगें भौतिक होती हैं। वे नाम-यश, धन-सम्पत्ति तथा दैहिक सुख और भोग-विलास के उपकरणों को जुटाने में जीवन का परम सुख मानते हैं। शारीरिक सुख के साधन एकत्र करने के लिए ही मानो वे अपनी यात्रा करते हैं—जीवन के आरंभ से अन्त तक।

दूसरी कोटि के लोग वे होते हैं, जो जीवन के तुच्छ सुखों की माँग पर ठहरते नहीं। उनकी माँग कहीं गहरी होती है। उनकी प्यास कुछ गहन होती है। वे जान चुके होते हैं कि भौतिक पदार्थ सुख दे सकते हैं, शांति और तृप्ति नहीं; आकर्षण उत्पन्न कर सकते हैं, आत्मिक आनंद का रस-वर्षण नहीं। ऐसे व्यक्ति अपनी भूख मिटाने के लिए, आत्मा की तृप्ति के लिए, नित्यानन्द के लिए, निज में परम विश्राम के लिए और विमल विवेक के आलोक के लिए विकल हो उठते हैं। उनकी विकलता परम करुणामय प्रभु से देखी-सही नहीं जाती। वे किसी शरीर को अपना माध्यम बनाकर ऐसे परम पिपासुओं के लिए अवतीर्ण होते हैं धरती पर—सद्गुरु के रूप में और उनकी चिरंतन भूख, शाश्वत पिपासा तथा असीम आकुलता हर कर उन्हें परम विश्रांति और आनन्द में प्रतिष्ठित कर देते हैं।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा :

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥[3]

अर्थात् जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन कर मेरी उपासना करते हैं उनका योगक्षेम (परम मंगल) मैं वहन करता हूँ। यानी ऐसे प्राणियों के आत्मानन्द का दायित्व मैं लेता हूँ।

एक बार ईसा ने एक शहर में किसी सामरी स्त्री से पीने को पानी माँगा। उस स्त्री ने कहा: "आप यहूदी हैं फिर भी एक सामरी स्त्री से पीने का पानी माँगते हैं? (यहूदी उन दिनों सामरियों के हाथ का पानी नही पीते थे।) ईसा ने उत्तर दिया : 'यदि तू परमेश्वर के उपहार को जानती (ईसा परमेश्वर के परम प्रिय उपहार थे) और उसे जानती जो तुझसे पानी माँग रहा है तो तू उससे माँगती और वह तुझे जीवन का जल देता।' स्त्री ने कहा : 'महाशय, आपके पास बाल्टी भी नहीं है और कुआँ भी गहरा है। तब आपको जीवन का जल कहाँ से मिला?' ईसा ने उत्तर दिया : 'जो व्यक्ति इस कुएँ का पानी पीयेगा उसे फिर प्यास लगेगी। जो पानी मैं दूँगा उसे यदि कोई व्यक्ति पिये तो उसे फिर कभी प्यास नहीं लगेगी। जो पानी मैं दूँगा वह उसमें एक ऐसा स्रोत बनेगा जो निरंतर बहता रहेगा और उसे अनंत जीवन देगा।' उन्होंने एक बार कहा : 'जीवन की रोटी मैं हूँ। जो मेरे पास आएगा उसे फिर कभी भूख नहीं लगेगी। जो मुझ पर विश्वास करता है उसे फिर कभी प्यास नहीं लगेगी।'

वस्तुतः जो सच्चे गुरु होते हैं वे लोगों की आध्यात्मिक भूख-प्यास दूर कर उसे परम जीवन, अमर जीवन, निर्द्वन्द्व जीवन और अभय का जीवन प्रदान करते है। ऐसे गुरु सच्चिदानन्द ही हो सकते हैं, होते हैं। श्रीरामकृष्ण देव का वचन है : 'मनुष्य का क्या साध्य कि वह औरों को संसार-बंधन से मुक्त कर सके! जिनकी यह भुवन मोहिनी माया है वे ही इस माया से मुक्त कर सकते हैं। सच्चिदानन्द गुरु को छोड़ कर अन्य कोई गति नहीं।'[4]

जिसने स्वयं ईश्वर-लाभ किया है, ईश्वर की शक्ति

---

3. श्रीमद्भगवद्गीता : ९/२२ 4. श्री 'म' कृत श्रीरामकृष्ण कथामृत : प्रथम भाग : पृ० ७४

से स्वयं को शक्तिमान बनाया है वही सद्‌गुरु है, वही जीवों को भव-बन्धन से विमुक्त कर सकता है।

सद्‌गुरु सत्, चित और आनन्द में अविचल भाव से स्थित रहते हैं; इसीसे वे सच्चिदानन्द हैं। वे लोक-कल्याण के लिए ही विश्व में अपनी करुणा, प्रेम और मंगल का वर्षण करते हुए जीते हैं; इसीसे वे सदाशिव हैं, शंकर हैं।

गुरु वह है, जो मुक्त है, स्वाधीन है, आत्मानुशासित है।

गुरु वह है, जो सत्य को उपलब्ध हो चुका है।

गुरु वह है, जिसने उतार दिया है केंचुल की तरह सांसारिक कामनाओं को, गिरा दिया है सूखे पत्ते की तरह विषय-वासनाओं को और प्रतिष्ठित कर चुका है स्वयं को समरसता के कैलास-शिखर पर।

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भरे चित्त से जो व्याप्त कर देता है सभी दिशाओं को, वह गुरु है।

अपनी आत्मा में ही जो रमता है, वह गुरु है।

जब 'श्रीरामकृष्ण बीमार पड़े, तो एक ब्राह्मण ने सुझाया कि वे रोग से मुक्ति पाने के लिए अपनी महान् मानसिक शक्ति का उपयोग करें, उसने कहा कि यदि गुरु अपने मन को अपने शरीर के रुग्ण भाग पर केन्द्रित करें, तो वह अच्छा हो जायगा। श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "क्या! जो मन मैंने ईश्वर को दे दिया है, उसे उस क्षुद्र शरीर के लिए नीचे उतारूँ!" उन्होंने शरीर और बीमारी के विषय में सोचना अस्वीकार कर दिया। उनका मन निरंतर ईश्वर का अनुभव करता था, वह पूर्ण रूपेण उसके प्रति अर्पित था। वह किसी दूसरे कार्य के लिए उसका उपयोग करने को तैयार नहीं थे।'[5] यह है गुरु का स्वरूप।

ऐसा गुरु मुमुक्षु जीवों को अमृतमय जीवन की ओर ले जाने में सहायक होता है।

ऐसा गुरु उस पथ का संकेत करता है जिस पर चलकर जीव देह की झोपड़ी से आत्मा के राजमहल में, अंधकार के गर्त से आलोक के कुंज में और मृत्यु के गह्वर से अमृत के मान सरोवर में प्रवेश करता है।

ऐसा गुरु उस सोपान की ओर निर्देश करता है जिसे पार कर जिज्ञासु जीव सत्य के उस शिखर पर पहुँचता है जहाँ पहुँचकर उसे कुछ और जानने, पाने या कहीं और पहुँचने की कामना नहीं रह जाती। वह जान लेता है कि जो वह है वही यह जगत् है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। वह स्वयं शिव है, स्वयं सच्चिदानन्द है, स्वयं गुरु है।

निश्चय ही ऐसे गुरु विरले होते हैं। कई-कई शताब्दियों के बाद विश्व-विपिन में परमात्मा की कृपा से कोई ऐसा पारिजात-पुष्प खिलता है जो सद्‌गुरु या विश्व गुरु के रूप में स्वीकृत-समादृत होता है। उसकी साधना, सिद्धि और स्नेह की सुगंध से विश्व-मानव का परम कल्याण होता है—केवल जीवन-काल में ही नहीं, उसके शरीर-त्याग के उपरान्त भी सैकड़ों हजारों वर्ष तक उसकी सुगंध मानव-जाति की चेतना में शान्ति, आनन्द और समरसता की लहर उत्पन्न करती रहती है।

आजकल गुरुओं की जो भरमार दिखायी पड़ती है उनमें वास्तविक गुरु कम ही होते हैं। बहुत सारे स्वघोषित भगवान भी हैं। लेकिन इससे क्या? सच्ची बात तो यह है कि "गुरु मुझे सिखाये और प्रकाश में पहुँचाये, मुझे उस शृंखला की एक कड़ी बनाये, जिसकी कि वह स्वयं एक कड़ी है। साधारण मनुष्य गुरु बनने का दावा नहीं कर सकता। गुरु ऐसा मनुष्य होना चाहिए, जिसने जान लिया है, दैवी सत्य को वास्तव में अनुभव कर लिया है, और अपने को आत्मा के रूप में देख लिया है।...... एक सच्चा गुरु अपने शिष्य से कहेगा, 'जा और अब पाप न कर' और शिष्य अब पाप नहीं कर सकता—उस व्यक्ति में पाप करने की शक्ति नहीं रहती।

"......वह शक्ति, जो एक क्षण में जीवन को परिवर्तित कर दे, केवल उन जीवंत प्रकाशवान आत्माओं

5. विवेकानन्द साहित्य : तृतीय खण्ड : पृ० १९४।

से ही प्राप्त हो सकती है, जो समय-समय पर हमारे बीच में प्रकट होती रहती हैं। केवल वे ही गुरु होने के योग्य हैं। तुम और मैं केवल थोथी बकवक है, गुरु नहीं। हम अपनी वातों से अवांछनीय कम्पन उत्पन्न करके संसार को अधिक क्षुब्ध कर रहे हैं।"[७]

वस्तुतः हमें ऐसे ही गुरु की खोज करनी चाहिए। खोज तबतक शुरू नहीं होती जब तक हमारे हृदय में उसके लिए तीव्र ललक और आकांक्षा नहीं जगती। हर खोज के लिए, हर तलाश के लिए, हर संधान या अनुसंधान के लिए तैयारी करनी होती है। गुरु की खोज के लिए भी तैयारी करनी होती है। वह तैयारी है अपने में शिष्यत्व उत्पन्न करना। यात्रा पूरी होती है तो मंजिल मिल जाती है। यात्रा की पूर्णता ही मंजिल की उपलब्धि है। यात्रा पूरी होकर मंजिल में परिणत हो जाती है। शिष्यत्व की पूर्णता होने पर और कुछ करना शेष नहीं रह जाता। गुरु उपलब्ध हो जाते हैं—किसी न किसी रूप में।

मेरे एक मित्र की पत्नी ने मुझसे एक बार पूछा था—'मैं दीक्षा लेना चाहती हूँ। लेकिन अब तक कोई मनोनुकूल गुरु ही नहीं मिला। किनको अपना गुरु बनाऊँ, समझ नहीं पाती। क्या आप इसमें कुछ मदद कर सकते हैं?' मैंने उनसे कहा था—'गुरु ढूंढ़ने की परेशानी में मत पड़िए। अपने भीतर शिष्यता ही उत्पन्न कीजिये। गुरु अनुकूल अवसर पर स्वयं मिल जायेंगे।' महत्व की वात गुरु को नहीं, शिष्यत्व को उपलब्ध करना है। श्रीरामकृष्ण देव ने जितने विविध मार्गों की सफल साधनाएं की थीं, उतने मार्गों की अब तक किसी एक व्यक्ति ने नहीं की। लेकिन वे गुरु ढूंढ़ने कहीं गये नहीं। स्वयं उनके पास एक-एक कर गुरु आते गये और अपने-अपने मार्ग की साधना में उन्हें सिद्ध करते गये। कारण क्या था? श्रीरामकृष्ण देव में शिष्यत्व अपनी पूर्णता के साथ पहले से ही प्रतिष्ठित था।

गुरु लाखों मिलते हैं। शिष्य ढूंढ़े नहीं मिलता। कहावत है—'गुरु हमको लाखो मिले, शिष्य मिला ना एक।' इसका कारण क्या है? कारण है शिष्य का अहंकार। गुरु ढूंढ़ने का अर्थ है, गुरु की जांच, गुरु की परीक्षा। जिसे शिष्य होना है वह पहले अपने गुरु का इम्तहान लेकर उसे उत्तीर्णांक देना चाहता है। जिसे वर्णमाला का परिचय ही नहीं है भला वह कैसे शिक्षक का परीक्षण कर अपने लिए चयन करेगा! शिष्य का यह अहंकार है, जिसे नहीं जानता उसे परखने का दंभ। इसे मिटाना होगा।

कबीर कहते हैं—

> **जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहि।**
> **प्रेम गली अति सांकरी, या में दो न समाहि॥**

अहंकार-विसर्जन के बिना शिष्यत्व की तैयारी नहीं होती अहंकार झुकने नहीं देता। अहंकार प्रश्न उगाता है, प्रेम नहीं; शंका को जन्म देता है, समर्पण को नहीं; विकल्प में जीता है, निर्विकल्प में नहीं। अहंकार की यही मुसीबत है। वह द्वैत खड़ा करेगा, अद्वैत में उतरेगा नहीं। और गुरु है प्रेम, गुरु है समर्पित होने का मन्दिर, अद्वयता का, अभेद का अनन्त विस्तार। और 'प्रेम-गली अति सांकरी या में दो न समाहिं।' अहंकार के गये बिना, निरहंकृत हुए बिना शिष्यत्व नहीं आता। और शिष्यत्व ही नहीं हुआ तो गुरु कहाँ से आयेंगे? आकर करेंगे भी क्या? खेत ही तैयार नहीं हुआ तो बीज कहाँ डाला जायगा?

तंत्र-ग्रन्थों तथा अनेक काव्यों (यथा रामचरित मानस) में हम पाते हैं कि वहाँ वक्ता शिव हैं, श्रोता पार्वती। शिव गुरु हैं। शिष्य पार्वती। पार्वती अर्थात् शिव की पत्नी—सहधर्मिणी। सहधर्मिता ही शिष्यत्व है। शिष्य होने के लिए पार्वती होना पड़ेगा—गुरु के समक्ष समग्रगत भाव से समर्पित होने के लिए तत्पर होना पड़ेगा। जैसे पत्नी पति के बीज को ग्रहण कर उसे अपने भीतर गोपनीय भाव से नौ महीने रखती है और अपने उदर में बीज का विस्तार कर समय आने पर उसे नव शिशु के रूप में विश्व को देकर माँ बन जाती है वैसे ही गुरु के

7. विवेकानन्द साहित्य : तृतीय खण्ड : पृ० १९८

बीज मंत्र को ग्रहण कर, उसका चिंतन-मनन निदिध्यासन के द्वारा पल्लवन कर लोक हित में अर्पित करने की क्षमता भी शिष्य में होनी चाहिए। सच्चे शिष्य में आकर ही गुरु के मंत्र शतशः फलीभूत होते हैं।

शिष्यत्व के लिए कुछ अन्य अनिवार्य शर्तें हैं— जिज्ञासा, सत्य-निष्ठा, मनोनिग्रह, गुरु में दृढ़ आस्था-विश्वास, मुक्ति-लाभ की तीव्र आकांक्षा और सत्-असत्-विवेक की दृष्टि।

सत्य को जानने की, अपने मूल स्वरूप को पहचानने की, जीव और जगत के मूल कारण और रूप को जानने की गंभीर आकुलता ही जिज्ञासा है। जिज्ञासा जितनी तीव्र होगी, शिष्यत्व उतना अधिक परिपक्व होगा। इसके साथ ही पवित्र जीवन जीने की तैयारी करनी होगी, सत्य के प्रति एकान्त निष्ठा रखनी होगी, अभय में विचरण करना होगा। फिर, होने वाले गुरु में पूर्ण प्रतीति, पूरा विश्वास रखने की क्षमता उत्पन्न करनी होगी। स्वामी विवेकानन्द जी का कथन है—'गुरु के साथ जो सम्बन्ध है, वह जीवन में महानतम है। जीवन में मेरा प्रियतम और निकट सम्बन्धी मेरा गुरु है, उसके बाद मेरी माता; फिर मेरे पिता। मेरा प्रथम आदर गुरु के लिए है। यदि मेरे पिता कहें, 'यह करो', और मेरे गुरु कहें, 'इसे मत करो' तो मैं वह नहीं करूँगा। गुरु मेरी जीवात्मा को मुक्त करते हैं। पिता और माता मुझे यह शरीर देते हैं, पर गुरु मुझे आत्मा में नया जन्म देते हैं।' यही भाव गुरु के प्रति रखना होगा। ऐसे विश्वासी शिष्य में गुरु का मात्र एक हलका स्पर्श, एक हलका शक्तिपात नवीन जीवन डाल देगा। यही अग्नि दीक्षा है।

शिष्य होने के लिए अपने भीतर मुक्त होने की तीव्र आकांक्षा भी उत्पन्न करनी होगी। 'मैं मुक्त होऊँगा और इसी जीवन में मुक्त होऊँगा'—ऐसा भाव प्रतिक्षण हमारे मन में प्रज्वलित होता रहे। हमें जानना होगा कि 'वासनाएँ कभी भोग से तृप्त नहीं होतीं। भोग से वासनाओं में उसी प्रकार वृद्धि होती है, जैसे अग्नि को दिया हुआ घी अग्नि में वृद्धि करता है।'[7] अतः वासनाओं की धधकती ज्वाला में पतंगों के समान जान बूझकर जल-झुलस जाने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। हम मुक्ति के लिए साधना करनी ही होगी।

हमें अपने मन पर नियंत्रण करना होगा। मन को अपने अधीन करना होगा। हम मन के दास हो गये हैं। अब उसका स्वामी होना होगा। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हमारे वशीभूत होंगी, तभी हम सच्चे शिष्य हो पायेंगे।

फिर सत्-असत् का विवेक होना भी आवश्यक है। केवल ईश्वर ही नित्य हैं, सत्य हैं, सनातन और अपरिवर्त्तनशील हैं। अन्य वस्तुएँ अनित्य हैं, अतः असत्य है। जो अनित्य है, वह कैसा भी आकर्षक और सम्मोहक क्यों न हो, उसके प्रति हमारा आकर्षण, हमारा झुकाव नहीं होगा। जो नित्य है, जो सत्य है—हम उसी के लिए जियेंगे और मरेंगे। यह भाव हमारे अंतःकरण को शुद्ध करेगा और हममें शिष्यत्व उत्पन्न करेगा।

इन शर्तों की पूर्ति से ही शिष्यत्व आता है। हमें इनकी पूर्ति करनी ही होगी। इनसे किसी प्रकार का समझौता नहीं किया जा सकता। इनकी पूर्ति के बिना न हम सच्चे शिष्य हो सकेंगे और न हमें सच्चे गुरु ही मिल सकेंगे। यदि संयोग या सौभाग्य से कोई सद्गुरु हमें मिल भी गये तो भी हमें कोई विशेष लाभ न हो सकेगा। और हममें यदि शिष्यत्व हो गया तो गुरु की हल्की कृपा से ही मुक्ति हो जायगी, आत्मतत्व का साक्षात्कार हो जायगा। दिया जब तेल और बाती से भर जाता है तभी कोई जलता हुआ दीपक अपने हलके स्पर्श मात्र से उसे प्रज्वलित, और प्रकाशित कर देता है। तब फिर दोनों दीपों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। "इन सब तैयारियों के पूर्ण होने पर शिष्य का हृदय-कमल खिलेगा और तब भ्रमर आयेगा। तब शिष्य को ज्ञान होगा कि गुरु उसके शरीर में, उसके भीतर था। वह खिलता है। वह अनुभूति पाता है। वह जीवन के सागर को पार करता है; और परे जाता है। वह इस भयावह सागर को पार करता है; और दयावश बिना लाभ अथवा स्तुति का विचार किये, दूसरों को इसे पार करने में सहायता देता है।"[8] गोस्वामी तुलसी दास ने कहा है—

गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई।
जौं बिरंचि संकर सम होई।।

तो मित्रो, सद्गुरु पाने के लिए हमें सद् शिष्य होना होगा। हमें उसकी तैयारी करनी होगी। विश्व के महानतम सद्गुरु भगवान श्रीरामकृष्ण हम सब में शिष्यत्व उत्पन्न करने की कृपा करें— हम सब उनसे यही प्रार्थना करें।

7. मनुसंहिता ।।२।९४।।
8. विवेकानन्द साहित्य : तृतीय खण्ड : पृ० २०३

परमहंस श्रीरामकृष्ण देव एवं गुरु-तत्व

—उमेशचन्द्र

परमहंस श्री रामकृष्ण देव युग पुरुष थे। उनकी अलौकिक प्रतिभा पूर्वाकाश में उदित हुई किन्तु १९वीं सदी के अन्त तक पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने भी इस महामानव की आध्यात्मिक उपलब्धिओं का हृदय से स्वागत किया। साक्षात् ब्रह्म के ही महत् अंश से पार्थिव शरीर ग्रहण कर उन्होंने विभिन्न धर्मो का अनुशीलन किया एवं ईश्वरीय तत्व की अभिन्नता का साक्षात्कार किया। उन्होंने विभिन्न धर्मों की साधना पद्धतियों का सूक्ष्म अनुशीलन कर ही परमब्रह्म के विभिन्न रूपों का साक्षात् दर्शन किया एवं तत्पश्चात् 'यतो मत ततो पथ' की युगवाणी दी। जितने भी मत हैं, साधन-पद्धतियाँ हैं, सभी उस परमपिता परमेश्वर एवं उस ब्रह्म तत्त्व की ओर मानव मात्र को ले जाने में सार्थक हैं। व्यक्ति में साधन क्षमता एवं ईश्वरप्रेम की आवश्यकता है। साधना के पथपर अग्रसर अपने प्रिय शिष्यों को गुरु के प्रति एकनिष्ठ भक्ति की सीख उन्होंने दी। श्री रामकृष्ण कहते थे—"अत्यंत एकनिष्ठ भक्त को अपने गुरु के प्रति प्रेम तो होगा ही, पर गुरु का कोई नातेदार या गुरु के गाँव का कोई मनुष्य मिल जाय तो उसे एकदम गुरू का स्मरण होकर वह उसी को गुरु कहकर प्रणाम करेगा। भक्त की गुरुभक्ति इतनी उच्च अवस्था में पहुँच जाने पर उसको अपने गुरु में एक भी दोष नहीं दिखायी देता।...पाण्डु रोग वाले मनुष्य को सबकुछ पीला ही पीला दिखायी देता है। उसको सब तरफ 'ईश्वर ही सब कुछ हो गया है' ऐसा दिखने लगता है।"[1]

गुरु भक्ति का सर्वोच्च आदर्श श्री रामकृष्ण देव ने मानव मात्र को दिया। परमहंस श्री रामकृष्ण देव ने गुरु महिमा का आदर्श अपने जीवन में उपस्थित किया। अज्ञानरूपी मलीनता को मायाबद्ध मनुष्य के जीवन से हटानेवाली दिव्य शक्ति को ही गुरु भाव और वह दिव्य शक्ति जिस शरीर के आश्रय से प्रकट होती है उसे ही शास्त्रों ने गुरू की संज्ञा दी है। गुरुशक्ति वस्तुत ईश्वरीय शक्ति का प्रतीक है। यही कारण है कि हम शास्त्रों ने गुरू को परमपिता परमेश्वर का एक रू[illegible] माना है।

"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥"

भक्त कबीर ने तो ईश्वर से भी श्रेष्ठ गुरु को मान[illegible] है। भक्त कबीर की ये पंक्तियाँ गुरु की महानता ए[illegible] सार्वभौमिकता का परिचय देती हैं :—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काको लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपनो गोविन्द दियो बताय॥

परमहंस श्री रामकृष्ण देव ने गुरु सत्ता पर पू[illegible] भक्ति एवं निष्ठा की सीख दी थी। वे कहा करते [illegible] "यह ईश्वरीय शक्ति सभी मनुष्यों के मन में कम य[illegible] अधिक प्रमाण में रहा करती है। इसलिए गुरु भक्ति परायण साधक अन्त में ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है कि उस समय यह शक्ति स्वयं उसमें ही प्रकट होकर उसके मन की सभी शंकाओं का समाधान कर देती है और अत्यंत गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्वों को उसे समझा देती है। तब तो उसे अपने संशयों को दूर कराने के लिए किसी दूसरी जगह नही जाना पड़ता।...अन्त में मन ही गुरु-बन जाता है।"[2] गुरुभक्ति परायण साधक का मन पूर्णतया शुद्ध एवं पवित्र हो जाता है। जीवन के भोगसुख एवं कामिनी-कांचन से वियुक्त मन शुद्ध और पवित्र होकर ईश्वर शक्ति का रूप बन जाता है। पवित्र और शुद्धमन संशयों से अतीत होकर ईश्वर तत्त्व से अभिन्न हो जाता है।

सामान्य मन की स्थिति अधोगामी होती है। अधोगामी मन की अर्ध्वगामिता गुरुकृपा पर ही पूर्णतया निर्भर करती है। कामिनी एवं कांचन में आसक्ति ही

1. श्री रामकृष्ण लीलामृत—द्वितीय भाग पृष्ट १३८

2. श्री रामकृष्ण लीलामृत—भाग-२ पृष्ठ १३९

मन की मलीनता है। श्री रामकृष्ण देव कहा करते थे—"गुरु अर्थात् सखी, जब तक राधा को श्री कृष्ण से भेंट नहीं हुई थी, तबतक सखी का काम समाप्त नहीं हुआ था। श्री गुरु अपने शिष्य का हाथ पकड़कर उसे उच्च और उच्चतर भाव प्रदेश में ले जाते और उसके इष्टदेव के सामने लाकर कहते हैं 'शिष्य, देख तेरा यह इष्टदेव !' और इतना कहकर श्री गुरु स्वयं अन्तर्धान हो जाते हैं।"[3]

भगवत बुद्धि से गुरु की पूजा, गुरु का ध्यान और चिन्तन मन की मलीनता दूर कर देते हैं। निर्मल एवं शुद्ध मन ही परमात्मा की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। सद्गुरु में यह समर्थता होती है कि वह जीव के अहंकार को, उसके मन की मलीनता को अपनी महती कृपा से दूर कर दे। कच्चे गुरु के हाथ में पड़ने से शिष्य का अहंकार नहीं जाता, संसार बन्धन नहीं कटता। जिसने स्वयं ईश्वरलाभ नहीं किया है, प्रभु का आदेश नहीं पाया है, उनकी शक्ति से शक्तिमान नहीं बना है, उसका क्या सामर्थ्य कि दूसरे का संसार-बन्धन काट सके ?"[4]

सद्गुरु की एकनिष्ठ भक्ति एवं गुरु की महती कृपा पर ही साधक की आध्यात्मिक उन्नति निर्भर करती है। श्री रामकृष्ण देव कहा करते थे—"गुरु तो उस इष्टदेव के साथ एक रूप हो जाते हैं। गुरू, कृष्ण और वैष्णव ये तीनों ही एक हैं—एक के ही ये तीन रूप हैं।"[5] भक्ति, भक्त, भगवन्त और गुरु ये चार नाम हैं, किन्तु शरीर एक है। गुरु की कृपा, भगवत् इच्छा एवं सत्संग के साथ ही साथ मन की भी महती कृपा आत्मा के परम विकास हेतु आवश्यक है। विषय-चिन्तन ही मन की सामान्य प्रवृत्ति है किन्तु मन की उर्ध्वगामिता गुरु भाव का चरमोत्कर्ष है। शास्त्रों ने इसी कारण से गुरु वन्दना की है।

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजा मूलं गुरो पदम्।
मंत्र मूलं गुरोवाक्यं मोक्षमूलं गुरो कृपा ॥

परमहंस श्री रामकृष्ण देव अपने शिष्यों को प्रायः यह चेतावनी देते थे कि गुरु का निर्णय वे स्वविवेक से करें। वे कहा करते थे। गुरु को दिन में देखो, रात में परखो तदुपरान्त ही गुरु को आत्म-समर्पण करो। एक बार दक्षिणेश्वर में परमहंस श्रीरामकृष्ण देव अपने कक्ष में शयन कर रहे थे, साथ ही उनका एक शिष्य भी था। अचानक रात्रि में शिष्य की निद्रा टूटी तो उसने पाया गुरुदेव अपने बिछावन पर नहीं हैं। उसके मन में यह शंका हुई कि संभवतः गुरुदेव नौबतखाने में श्रीमाताजी के कक्ष की ओर गये हैं। थोड़ी देर में उसने पाया कि गुरुदेव पंचवटी की ओर से लौट रहे हैं। श्रीरामकृष्ण देव से शिष्य की यह जिज्ञासु दृष्टि छिपी नहीं रह सकी। प्रायः वे अपने शिष्यों को कहा करते थे कि वे गुरु के चयन में पूर्ण विवेक एवं संयम का परिचय दें। "सच्चा गुरु वही है जो क्षण भर में ही मानो हजारो विभिन्न व्यक्तियों में अपने को परिणत कर सके। सच्चा गुरु वही है जो विद्यार्थी को सिखाने के लिए विद्यार्थी की ही मनोभूमि के बराबर तुरत उतर आये और अपनी आत्मा को अपते शिष्य की आत्मा में एकरूप कर सके तथा जो शिष्य की ही दृष्टि से देख सके, उसी के कानों से सुन सके तथा उसी के मस्तिष्क से समझ सके। ऐसा ही गुरु शिक्षा दे सकता है—अन्य दूसरा नहीं। अन्य सब निषेधक, निरूत्साहक तथा संहारक गुरु कभी भलाई नहीं कर सकते।'[6] श्री रामकृष्ण परमहंस ने अपने जीवनकाल में विभिन्न साधना पद्धतियों का सूक्ष्म अनुशीलन किया तत्पश्चात् ही वे गुरुपद पर अधिष्ठित हुए। श्रीरामकृष्ण में गुरुभाव का प्रकाश बालकाल से ही था, किन्तु विभिन्न साधनाओं से गुजरने के बाद एवं निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति के पश्चात् ही उस भाव का पूर्ण विकास हो पाया।

अपने जीवनकाल में उन्होंने कई व्यक्तियों से दीक्षा ली। भैरवी ने उन्हें तांत्रिक एवं महा भाव की दीक्षा दी। स्वामी तोतापुरी ने उन्हें निर्विकल्प समाधि एवं अद्वैत उपासना की पद्धति बतलायी। राधा भाव को

3. वही—पृष्ठ १४०
5, श्री रामकृष्ण लीलामृत—पृष्ठ १४०
4. ध्यान, धर्म तथा साधना—पृष्ठ ७८
6. मेरे गुरुदेव : स्वामी विवेकानन्द : पृष्ठ ४९-५०

उपासना करते समय उन्होंने स्त्रियोचित सभी सामान्य गुणों का अपने में अनुभव किया। रामलला की उपासना के समय तो रामलला की मूर्ति स्वयं बालक्रीड़ा करती हुई उन्हें साक्षात् दीख पड़ती थी। श्रीहनुमान के दासभाव की उपासना के समय उन्होंने अनुभव किया कि उनकी रीढ़ की हड्डी के नीचे कुछ निकला हुआ है। ईसाई एवं इस्लाम धर्मों की साधना पद्धतियों का भी उन्होंने सूक्ष्म अवलोकन एवं अभ्यास किया। उन्होंने ईसा का साक्षात् दर्शन किया। इस्लाम धर्म की साधना के समय हजरत मुहम्मद का इन्होने साक्षात् दर्शन किया। परमहंस श्रीरामकृष्ण साधना की उच्चतम अवस्था तक गये और अपने शिष्यों को यह युगवाणी दी कि जितने भी मत हैं वे सभी परम ब्रह्म की सत्ता तक ले जाने में समर्थ हैं।

परमहंस श्री रामकृष्ण देव ने साधना की ओर अग्रसर होने के लिए गुरु की महिमा बतायी है। श्रीरामकृष्ण देव अपने शिष्यों को हृदय से चाहते थे। साधना की उच्चतम अवस्था प्राप्त करने पर उन्होंने शिष्यों के बिना अकुलाहट का अनुभव किया। अपने शिष्यों के प्रति अगाध प्रेम की निर्झरणी प्रवाहित करना योग्य गुरु के लिए ही संभव है। उनके शिष्यों ने परमहंस श्रीरामकृष्ण देव को ईश्वर सत्ता का अभिन्न अंग माना। साधक की अपार गुरु निष्ठा एवं गुरु का अनन्य प्रेम उनके जीवन के सभी अंगों में व्याप्त रहा।

गुरु महिमा के ही कारण शास्त्रों ने शिव गुरु की स्तुति एवं वन्दना इन शब्दों में की है—

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

वैद्य तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। जो वैद्य केवल नाड़ी देखकर "यह लो दवा, खा लेना" कहकर चला जाता है, वह अधम श्रेणी का होता है। जो मीठी बातों द्वारा रोगी को समझाता है कि औषधि-सेवन से लाभ ही होगा, वह मध्यम श्रेणी का होता है। और जो रोगी को किसी प्रकार से भी औषधि-सेवन करता न देख उसके सीने पर सवार हो मुँह खोलकर उसे दवा पिला देता है, वह उत्तम श्रेणी का होता है। इसी प्रकार जो गुरु या आचार्य धर्म-शिक्षा देकर शिष्य की कोई खबर नहीं रखते, वे अधम गुरु हैं। जो शिष्य के मंगल के निमित्त बारम्बार प्यार से समझाते रहते हैं जिससे शिष्य उनके उपदेश धारण करे, वे मध्यम प्रकार के होते हैं। और जो यह देखकर कि शिष्य ठीक-ठीक उनके उपदेशों का पालन नहीं करता; उसके ऊपर जबरदस्ती तक करते हैं, उनकी गणना उत्तम गुरुओं में होती है।

—भगवान श्रीरामकृष्ण देव

परमहंस श्रीरामकृष्ण देव :
संदर्भ और संपर्क सूत्र

—शितिकंठ बोधिसत्व

श्री रामकृष्ण देव का कालक्रमात्मक, पूर्वापर निबद्ध या तर्काग्रही इतिवृत्त शब्दांकित करना न तो उद्देश्य है, न वह यहाँ उपयोगी ही जान पड़ता है। प्रस्तुत संदर्भ का अतीत, मृत या विस्मृत न होकर, किसी रहस्यमय प्रक्रिया से वर्त्तमान की तरह ही ज्वलंत, अपरोक्ष बना रहता है। एतदर्थ इस अद्वितीय वृत्त की इत्यादि नहीं है। सामान्य शब्दांकन की चेष्टा इसके मर्मव्यापी रसायन को अतीतावृत करके दूरस्थ तथा प्रभावशून्य बना देती है। अतः संत सदगुरु से वर्त्तमान अपने नित्य-नवीन अमृत संपर्क-सूत्र को उजागर करना ही प्रस्तुत शब्दांकन का वास्तविक औचित्य होना चाहिए।

भगवान् अपनी आत्ममाया से ही अनगिन ब्रह्मांडों, बहुविध जड़चेतन कोटियों, व्यक्ति-वस्तु-परिस्थितियों तथा उनसे बनते हुए अनादि भव-सागर के रूप में अनुक्षण प्रकट होते रहते हैं। यह आत्ममाया ही चंडी की महामाया है। गीता में श्रीकृष्ण की भगवद्वाणी 'सम्भवाम्यात्म मायया' इसी परमेश्वरी शक्ति का उल्लेख करती है। सूक्ष्म से समस्त स्थूल का विस्तार होता है। भागवत आत्ममाया संचर एवं प्रतिसंचर गतियों में अभिव्यक्त होकर सृष्टि-विस्तार करती है, और उसे समग्रतः अपने में विलीन करके आत्मगुप्त करती रहती है। देव्यथर्वशीर्ष में उल्लिखित : 'एषाऽऽत्म शक्तिः। एषा विश्वमोहिनी। पाशाङ्कुश धनुर्वाणधरा। एषा श्री महाविद्या' परमेश्वर की महाविद्या शक्ति का सूत्र-कथन है। परमात्मा की परा एवं अपरा शक्तियाँ उनकी महागहन आत्मशक्ति के द्विधा आयाम हैं। ये ही उनकी महामाया तथा महाविद्या शक्तियाँ हैं—परमात्मा तथा उनसे अभिन्न, उनकी आत्मशक्ति के आयाम हैं।

महाविद्या शक्ति प्रतिसंचरात्मिका होने से मनुष्य को स्थूल देहभावापन्न जीवभाव से तुरीयातीत ब्रह्मभाव में उपनीत करानेवाली है। इस तरह यह स्पष्ट है कि परब्रह्म सच्चिदानन्द अपनी महामाया शक्ति से अनन्त कोटि जड़ चेतन सत्ताओं में आत्मविस्मृति की लीला करता है, तथा साथ ही वह स्वयं अपनी महाविद्या शक्ति से अखंड आत्मस्मृति में जाग्रत होकर अपनी परमसत्ता से अभिन्न होता है। जड़ एवं चेतन आत्मविस्मृति का इस तरह अखंड आत्मस्मृति में उपनीत होना, परब्रह्म की महाविद्या आत्मशक्ति से घटित होता है। इस प्रतिसंचरशील आत्मशक्ति को भगवान् सच्चिदानन्द की सद्गुरु शक्ति कह सकते हैं। स्वयं-प्रकाश सच्चिदानन्द ही संत सद्गुरु होते हैं। प्रभु की महाविद्या शक्ति नरदेह में मूर्त्त होकर कृपा करुणामय हरिगुरु होती है, जिससे जीव जगत त्रिताप मुक्त होता है।

परमात्मा की महाविद्या शक्ति मानव मात्र की निज ज्ञानशक्ति है, उसके हृदय में अनुस्यूत ज्ञानगुरु स्वरूप विवेक का अलौकिक आलोक है। लोक व्यापी धर्मग्लानि के अतिरेक में यही करुणामय संतसद्गुरु होकर मानव शरीर में संघटित होती है। धर्म-संस्थापन, धर्म-संपोषण तथा समस्त साधन-पथों में नव संजीवन प्रदान करने के लिए, उक्त महावतार सनातन धर्मदर्शन का महदाधार है। श्रीरामकृष्ण देव इस संजीवनी महाविद्या या सनातन ब्रह्मविद्या की समस्त विधाओं के अमृतवाही महावतार हैं, जो अपनी अहैतुकी कृपा से पथभ्रांत आधुनिक मनुष्य को सहज ही उपलब्ध हुए। संस्थापन, संपोषण तथा संजीबन-संस्कार का अमृतवाही महाप्रवाह तापत्रस्त मनुष्य को विकृति की जड़ता से उबारकर सौम्य

प्रकृति की अखंड शांति से, भोगरोगबिद्ध अहम् को नित्यबोधमय चिन्मयता से तथा अभाव पंकिल नीरसता से ऊपर अनंत भक्तिरस की नित्यनवीन रमणीयता से अभिषिक्त करने के लिए संतसद्गुरु की करुणा में प्रस्रवित होता है। आधुनिक मानव को त्रितापोत्तर चिन्मयता से अभिन्न कराते हुए, प्रेमाभक्ति के नित्य-विहार को उपलब्ध कराने के लिए भगवान् रामकृष्ण परमहंस देव का अभूतपूर्व प्राकट्य संत सद्गुरु के रूप में हुआ था।

उन्नीसवीं सदी के मध्योत्तर काल में भारत की राष्ट्रीय मनश्चेतना जिस आत्मग्लानि में अधोगमन की ओर थी, उससे राष्ट्रीय आत्मविश्वास की घोर अवनति हुई। सनातन आध्यात्मिक अनुभव की प्रामाणिकता संदिग्ध होकर विदेशी मानदंडों से मापी जाने लगी थी। हम क्रमशः अपनी अक्षय आत्मचेतना की सतत जीवंत अमृत-ज्योति से वंचित होकर जीवन-मृत की तरह हो गये थे। आत्मविस्मृति पराश्रयी आवरणों में कुंठित रहने को अभिशप्त थी। हम सब अपनी अक्षुण्ण-सनातन कर्म, ज्ञान एवं उपासना की जीवनवाहिनी त्रिवेणी के घाट पर होकर भी, परावलंबी स्वीकृति या अनुमोदन की आतुर अपेक्षा रखते थे। हमारे नवशिक्षित अल्पसंख्यक बुद्धिजीवी आत्मविश्वास के उक्त स्खलन के पारदर्शी प्रमाण ही जान पड़ते थे। परापेक्षिता का यद्यपि कोई तर्क नहीं था, राष्ट्रमन में व्यापी हुई हीन ग्रंथि के सिवा, किन्तु, दासबुद्धि आयातित तर्क प्रणाली से आत्मानुभव को प्रमाणित करने की धृष्टता से ग्रस्त थी। अनास्था, अश्रद्धा एवं अविश्वास में डोलती हुई पाश्चात्य भौतिकवादी बुद्धिप्रवणता का यह क्रमिक प्रभाव-विस्तार था, जिस के कारण विदेशी शिक्षा से लाभान्वित लोग भी आत्मलोपी प्रमाद या राष्ट्रीय आत्मविस्मरण के दीन-हीन शिकार हो रहे थे। प्रभाव की दृष्टि से व्यापक न होते हुए भी, वे राष्ट्रीय हीन ग्रंथि के प्रगल्भ उदाहरण अवश्य ही थे। श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के अद्वितीय, परम प्राकट्य से ही धर्मग्लानिजनित आत्मविस्मृति की प्रमादवेला का युगांतरकारी समापन घटित होता है। उनके सच्चिदानन्द सद्गुरु-स्वरूप, स्वानन्द विग्रह परमावतार से धर्माभ्युत्थान का अमृत अरुणोदय ही प्रकट होता है। उनका रूपांतरणकारी महावतार जगद्गुरु की उन्मेषिणी, नित्यचिन्मय, अमृतस्पंदी करुणा का सहज उपलब्ध महाप्रवाह है। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि चिन्मय, चिदानन्दवाही जगद्गुरु का अनुक्षण निर्देशन संवेदनशील साधकों को सद्यः उपलब्ध होता है। उक्त निर्देशन की ओर प्रणतिनिष्ठ उन्मुखता रहने से हम आज भी शांति, स्वाधीनता तथा भगवद्भक्ति के अक्षय अनन्त एवं मधुर प्रेमरस को उपलब्ध हो सकते हैं। स्वानन्द-विग्रह, सतत्-उपलब्ध जगद्गुरु यद्यपि अपनी अखंड विभुता से सर्वत्र व्यापे हुए हैं, तथापि संवेदनशील साधकों के लिए सद्यः प्रकट होकर, अपनी अहैतुकी करुणा से सहज सनातन तारक ब्रह्म के रूप में फलित होते रहते हैं।

ऐसे विलक्षण नवावतार के संपर्क सूत्र में होने का सौभाग्य जन्म-जन्म के पुण्य से होता है। अनेक प्रकार के त्याग एवं पुण्य के बल से सौभाग्यशाली साधक उनके चिदानन्दवाही संपर्क सूत्र से संयुक्त होता है। लोभ और भय से अस्त-व्यस्त चित्त के अनेक आश्रयों एवं भ्रांत मान्यताओं का त्याग एवं व्याकुलतापूर्ण सरल तप के पुण्याधार में निहित अद्भुद् पात्रता को वह अमृत अनुग्रह अवगत होता है। वस्तुतः संशय, अनास्था, अभाव और नीरसता के प्रमाद-तिमिर का सदा के लिए अंत होना असंभव नहीं है।

अर्जुन को श्री कृष्ण मिले ही थे, बचपन से ही उनके सान्निध्य का लाभ था, किन्तु रूपांतरणकारी विश्वगुरु की प्रगाढ़ आत्मीयता के महाप्रसाद को वे यथा समय ही उपलब्ध हो सके। मान्यताओं के कितने ही बहिरन्तर आवरणों के प्रखर अन्तर्विरोध से उनका कर्त्तव्य-बोध अत्यंत विपर्ययग्रस्त था। स्पष्ट कर्त्तव्यबोध से सम्यक् कर्त्तव्यपालन संभव था, जिसके बिना न तो योगी की अखंड शांति और न ज्ञानी की चिन्मय तत्त्व-जिज्ञासा का उदय होता है। प्रबल व्यामोह तथा प्रगाढ़ विषाद की धर्म संमूढ़ वेला में गुरुतत्त्व से संपर्कित होने की प्रगाढ़ लालसा का उद्रेक होता है। कुरुक्षेत्र की अद्भुद् भूमि पर श्रीकृष्ण के परिचित विग्रह में सच्चिदानन्द जगद्गुरु

की पहचान होने लगना इस तरह अकारण न होते हुए भी अद्वितीय अवश्य है। सान्निध्य होते हुए भी पहचान का संयोग किसी विचित्र-विशिष्ट क्षण में घटित होता है, शिष्यत्व के परिपक्व होने पर। जीवन में विमूढ़ अशांति है: कर्त्तव्य-बोध आच्छादित है: कर्त्तव्य-पालन भी अत्यंत कठिन है। संदिग्ध चित्त के इस आत्यंतिक विन्दु पर न-जानने की प्रगाढ़ वेदना के ज्वलंत क्षण में अर्जुन का विषाद योग घटित होता है। यह उनके शिष्यत्व की परिपक्वता, या साधक-रूप में उनकी निर्मल पात्रता का प्रस्तुतीकरण है। इस तरह वे भगवान् के सच्चिदानन्द-सद्‌गुरु भाव के संपर्क-सूत्र में आते हैं। सद्‌गुरु का आश्रय जन्मांतर के पुण्य से उपलब्ध होता है, क्योंकि सद्‌गुरु की माँग का उदय भी किसी सौभाग्य-शाली के जीवन में होता है। उसकी माँग के सम्यक् रूप से जाग्रत हुए बिना, उसका होना या न होना एक सपाट नीरसता में आच्छादित रहता है। और अक्सर हम अपने इसी नीरस जीते रहने को, अपनी बौद्धिक अहम्मन्यता से समर्थित-सुरक्षित रखते हैं। हमारी अहंकृति एक सुरक्षित वृत्त में घूमती रहती है—सुख-दुःख, भोग-रोग, जन्म-मरण के अनिवार्य वृत्त में। किन्तु संत सद्‌गुरु स्वरूप भगवान् पुरुषोत्तम के अमृत-संस्पर्श की लालसा का उदय होता है धर्मसंमूढ़ विषाद योग की आत्यंतिकता में। माँग के समग्रतः जाग्रत हुए बिना, न तो पहचान की भागवत वेला आती है, और न वह संपर्क-सूत्र ही उपलब्ध होता है।

भगवान् पुरुषोत्तम स्वयं ही इतिहास महापुरुष की तरह सनातन हिन्दू धर्म के आधुनिक सर्ग का प्रणयन करते हैं। वस्तुतः, यह मनुष्य के इतिहास में धर्म का ही अधुनातन अध्याय है। श्रद्धा-विश्वास के अभूतपूर्व स्खलन से वंजर-विखंडित चित्त-दशा वाले आधुनिक युग के संदेह-विषाद की अद्वितीय पराकाष्ठा हम नरेन्द्र में देखते हैं, जब वे युगावतार जगद्‌गुरु के समक्ष अपनी विश्वविदित जिज्ञासा रखते हैं। संदेह तो सर्वत्र व्याप्त हुआ था, आज भी है, किन्तु उसकी वह वेदना जो पूर्ण होकर पराकाष्ठा पर नरेन्द्र के चित्त में प्रकट हुई, निश्चय ही अद्वितीय थी। साधारण मनुष्य अपने समस्त संशय, अभाव एवं नीरसता से एक व्यावहारिक समझौता करके चलता है। प्रायः हम संदेह को अपनी बुद्धिमत्ता से आवृत रखते हैं: सुरक्षित जीवन जीने के लिए संशय-ग्रस्तता को आधुनिक बौद्धिकता अथवा धर्मान्धता को ही आस्तिकों का विश्वास समझकर चलते हैं। इस तरह जीवन में संदेह की वेदना समग्र नहीं होती है। हमारे चित्त में वह विषादयोग घटित नहीं होता है, जिसके चिन्मय उत्ताप से नचिकेता की अदम्य जिज्ञासा, अर्जुन की सहज प्रपत्ति, या नरेन्द्र के संवेदनशील चित्त में भगवद् विश्वास की युगान्तरकारी माँग का अद्‌भुद् उदय होता है। लेकिन यह तो स्पष्ट है कि श्रीरामकृष्ण देव के द्वारा धर्म के अधुनातन अध्याय का प्रणयन आधुनिक मानव के संदेह, उसकी अनास्था, मतान्धता या धर्मान्धता की निविड़ प्रमादरात्रि का ऐतिहासिक समापन है। संदेह की निवृत्ति होती है, या जिज्ञासा की पूर्त्ति होती है। संदेह सघन विषाद-वेदना में प्रगाढ़ होकर निवृत्त होने के योग्य होता है, तथा जिज्ञासा भी समग्र पराकाष्ठा पर पहुँचकर ही पूर्त्त होती है। विषाद की गहरी, अस्तित्व व्यापी प्रखरता से अर्जुन की प्रपत्ति पूर्ण होती है, कर्त्तव्य पालन की अदम्य निष्ठा से नचिकेता का उदाहरणीय संकल्प गठित होता है, और संदेह की चूड़ांत वेदना से नरेन्द्र में अलौकिक ब्रह्म जिज्ञासा का ज्वलंत उदय होता है। संदेह की निवृत्ति या जिज्ञासा की पूर्त्ति की मांग तो मानव मात्र की है, किन्तु वह प्रायः अनभिव्यक्त रहती हुई कालांतर में ही प्रकट होती है। उसके प्रकट होकर क्रियमाण होने में काल का या समुचित पात्रता का तारतम्य है। श्री मद्‌भगवद्‌गीता के अंतिम अध्याय में जगद्‌गुरु सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण से अर्जुन का स्पष्ट निवेदन है:—

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥"

'अर्थात् (हे अच्युत!) मेरा आत्म विषयक मोह नष्ट हो गया; क्योंकि आपकी कृपा से 'मैं यह हूँ' इस प्रकार स्वरूप-स्मृति को मैं उपलब्ध हो गया। इसलिए मैं स्थित हूँ—अर्थात् युद्ध के लिए तैयार हूँ। धर्म विषयक

निस्संदेहता को प्राप्त करके अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।'

निस्संदेहता के साथ ही कर्त्तव्यबोध एवं अखंड आत्मस्मृति का उदय भी होता है। परन्तु प्रपन्न सत्पात्र अर्जुन के लिए यह स्वाभाविक है कि वह उक्त निस्संदेहता को भगवान् का कृपा-प्रसाद ही समझे।

प्रगाढ़ संदेह की प्रखर वेदना या कर्त्तव्य-बोध के चूड़ांत स्खलन का विषाद या कर्त्तव्य-पालन की परम निष्ठा या तत्त्व-जिज्ञासा का अस्तित्व व्यापी उदय होने के साथ ही जो अद्वितीय वैकल्य का उन्मेष होता है, उसे ही हम मनुष्य की गहनतम चैत्यक्रांति कह सकते हैं। यह समग्र मानवीय चित्त का गहनतम उन्मीलन है, अस्तित्त्व व्यापी अन्तर्गति है; जिससे हम तत्त्व-जिज्ञासा या स्वरूप-बोध, कर्त्तव्य-जिज्ञासा या स्वधर्म-बोध एवं ब्रह्म-जिज्ञासा या स्वभाव-बोध की ओर पूर्णतः सजग हो पाते हैं। स्वरूप, स्वभाव या स्वधर्म से अभिन्न होने की मर्मव्यापी विकलता के बिना शिष्यत्त्व का परिपाक नहीं हुआ रहता है, जो युगांतरकारी युगावतार की सर्वाश्लेषी कृपा वायु से संस्पर्शित एवं स्वभावतः सम्बन्धित अनुभव करने के लिए अनिवार्य है।

श्री रामकृष्ण परमहंस देव कहा करते थे कि "कृपा रूपी वायु सर्वदा बहती रहती है, तू पाल उठा क्यों नहीं देता?"

हजरत मुहम्मद

—अविनाश गौतम

जगत पिता के अद्भुत पुत्र प्रभु यीशु के लगभग छः सौ वर्ष बाद एक बार फिर अरब के महान् मसीहा, इस्लाम के संस्थापक, हजरत मुहम्मद के रूप में सर्वशक्तिमान की अलौकिक शक्ति का आविर्भाव विश्व में हुआ। उनका जन्म अरब की राजधानी मक्का में छठी शताब्दी में हुआ था। अरबों को अपनी मरुभूमि के बाहर की कुछ भी जानकारी न थी और विश्व की तत्कालीन सभ्यता को भी अरबों के विषय में शायद ही कुछ पता था। तब अरबी कबाइली यहूदियों की तरह ही अब्राहम को अपना पूर्व पुरुष मानते थे। वे सागर तट पर छोटे समूहों में रहते थे और ऊँटों पर अपने असबाब लादकर यहाँ वहाँ घूम-घूमकर अन्य कबाइली समूहों से छोटे स्तर पर खरीद-बिक्री भी किया करते थे। उनकी एक ही भाषा थी पर प्रत्येक कबीला अपने में स्वतंत्र था और अपने प्रमुख के नेतृत्व में एक मोटे पैतृक प्रशासन से संचलित होता था। अरब वासी गर्म मिजाज, प्रचण्ड, स्वेच्छाचारी, चपल और लड़ाकू स्वभाव के लोग थे।

तब धर्म के नाम पर अरबों में प्राचीन माकोराबा की राजधानी मक्का के काबा मन्दिर में स्थित मूर्त्तियों की पूजा का प्रचलन था। अरबों का विश्वास था कि काबा का मन्दिर उनके पूर्व पुरुष अब्राहम द्वारा निर्मित था। कहते हैं कि अब्राहम की पत्नी हगेर कभी अपने छोटे शिशु इस्माइल को गोद में लिये मरुभूमि में भटकते हुए मक्का आ पहुँची। प्यास से व्याकुल हगेर शिशु इस्माइल को जमीन पर रोता छोड़ पानी की खोज में निकल पड़ी। इस्माइल हाथ-पाँव पटक कर रो रहा था और आश्चर्य! उसके पाँव तले ठण्ढे मीठे पानी का सोता फूट पड़ा। यही जम-जम का प्रसिद्ध कुआँ था। यमन के अमेल काइट और अरब कबीले सो से आकृष्ट हो आस-पास बस गये। इस्माइल उन्हीं के बीच बड़ा हुआ और उनके मुखिया की

पुत्री से उसने विवाह कर लिया। बाद में, इस्माइल की सहायता से अब्राहम ने काबा के वर्त्तमान मन्दिर का निर्माण किया ओर तीर्थ-यात्रा की प्राचीन रीतियों की स्थापना की।

इस्माइल के वंशज जो कोरिश नाम से जाने गये, इस मन्दिर और सोते के संरक्षक हुए। पाँचवी सदी में कोसाई नामक एक कोरिश-प्रमुख काबा का पुरोहित बना। कोसाई के पास मन्दिर की चाबी रहा करती थी और प्रतिवर्ष वह वहाँ आये तीर्थयात्रियों को पवित्र कुँए का जल एवं भोजन दिया करता था। तीर्थयात्री पवित्र मन्दिर की सात परिक्रमा किया करते थे और पूर्वी भाग में जड़े रहस्यमय पत्थर को चूमते थे। काबा में तब कई मूर्त्तियाँ थीं जिनमें मुख्य होबल या हेबल की मूर्त्ति थी। हर कबीले की अपनी प्रतिमा काबा में थी। ऐसी साढ़े तीन सौ से अधिक प्रतिमाएँ मनुष्यों, परियों तथा पशुओं इत्यादि के रूप में थीं और इन्हें राहेल, अल-लत अल-उज्जा आदि नाम से कबाइली पूजते थे। मुहम्मद के जन्म के समय अरब कबाइली घोर अंधविश्वासी तथा मूर्त्ति-पूजक थे। अब्राहम को ईश्वर का मित्र माना जाता था। उसे अल्लाताला अर्थात् सर्वोच्च देवता, नाम दिया गया था और सभी देव तथा प्रतिमाएँ उसके अधीन थीं।

अरबों के मसीहा हजरत मुहम्मद का जन्म काबा के पुरोहित कोसाई के परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम अब्दुल्ला, यानी ईश्वर का सेवक और माँ का अमीना था। पच्चीस वर्ष की उम्र में अब्दुल्ला ने अमीना से विवाह किया और तीन दिन उसके साथ रहकर सिरिया के दक्षिण गाजा की ओर व्यापार करने चल पड़ा। वापसी में मदीना पहुँचने पर अचानक अब्दुल्ला की मृत्यु हो गयी। अब्दुल्ला की मृत्यु पर उसकी विधवा को उसके पांच ऊँट, बकरियों की एक जमात और एक दासी बालिका मिली। बस इतना और अब्दुल्ला जिसमें रहता था वह मकान यही विरासत में मिला अरब के मसीहा को अपने जन्म पर।

२० अगस्त, ५७० ई० को अमीना ने एक शिशु को जन्म दिया जिसका नाम नवजात बालक के पितामह अब्दुल मुतालिव ने मुहम्मद रखा। अरबी भाषा में मुहम्मद का अर्थ होता है "प्रशंसित।" तब अरबों में सम्भ्रान्त माताएँ अपने बच्चों को स्वयं दूध नहीं पिलाती थीं। लिहाजा, मुहम्मद के लालन-पालन उसके चाचा की दासी थेवा को सौंपा गया। पर कुछ दिनों बाद बेनी-सद कबीले की हलीमा नामक धाय को यह काम दिया गया। पाँच वर्ष की उम्र होने के तक मुहम्मद हलीमा के संरक्षण में रहा। इस दौरान बालक मुहम्मद को उत्तेजक सम्मोहन के कई दौरे पड़े जिससे हलीमा कुछ चिन्तित भी हुई। पर वैसे मुहम्मद स्वस्थ और सबल था और बेनी-सद कबाइलियों की तरह ही वह शुद्ध अरबी भाषा बोलना भी सीख गया। बाद को मुहम्मद ने हलीमा का प्रेम याद रखा, "मैं तुम सब में सर्वोत्तम अरब हूँ; मैं कोरिशों का वंशज हूँ और बेनी-सद की जबान बोलता हूँ।"

अपने जीवन का छठा वर्ष मुहम्मद ने अपनी माँ के साथ मक्का में बिताया। फिर वह माँ के साथ परिवार के लोगों से मिलसे मदीना गया। जिस मकान में अब्दुल्ला की मृत्यु हुई थी उसी में एक मास माता-पुत्र दोनों रहे। अब्दुल्ला की कब्र के दर्शन कर दोनों मक्का के लिए रवाना हुए पर रास्ते में ही अमीना बीमार पड़ी और उसकी मृत्यु हो गयी। अनाथ मुहम्मद अपनी धाय के साथ मक्का लौट आया।

अबकी पितामह अब्दुल मुतालिब ने मुहम्मद को अपनी देख-रेख में रखा और ५७८ ई० तक, जब उसकी भी मृत्यु हो गयी, बहुत प्यार-दुलार से उसका लालन पालन करता रहा। आठ वर्ष में मुहम्मद के कोमल हृदय पर पितामह की मृत्यु से गंभीर आघात लगा। पर मरने के समम अब्दुल मुतालिब ने मुहम्मद की देखभाल का दायित्व अपने पुत्र अबू तालिब को सौंप दिया था। अबू तालिब ने अपने पिता की तरह ही मुहम्मद को बेटे की तरह ही दुलार दिया। वह जहाँ कही भी जाता मुहम्मद को अपने साथ रखता। मुहम्मद जब बारह वर्ष का था तब अबू तालिब को व्यापार के सिलसिले में एक बार सीरिया जाना पड़ा। हमेशा की तरह इस बार भी मुहमम्द चाचा के साथ गया। इस यात्रा के दौरान ये लोग कई यहूदी इलाकों से गुजरे और सीरिया के ईसाइयों के सम्पर्क में भी आये। किशोर मुहम्मद को इस यात्रा में

यहूदी और ईसाई रीती-रिवाज, धार्मिक विश्वास और व्यवहार इत्यादि को जानने का अवसर प्राप्त हुआ। इस कम उम्र में भी तीक्ष्ण बुद्धि और उच्च आध्यात्मिक रुझान के कारण मुहम्मद को यहूदियों और ईसाइयों के धार्मिक विश्वासों की तुलना करते देर न लगी।

बीस वर्ष की उम्र तक हजरत मुहम्मद के जीवन में किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख नहीं मिलता। इन्हीं दिनों मुहम्मद ने अपने चाचाओं के साथ अन्य कबीलों के विरुद्ध लड़ाई में भाग लिया। पर मुहम्मद ने इस लड़ाई में स्वयं बस शत्रु के गिरे हुए तीर इकट्ठे कर अपने चाचाओं को देने का काम किया। युवावस्था में कुछ दिनों तक उन्होंने गड़ेरिये का भी काम किया। वीरान मरुभूमि में भेड़ों की जमात को देखकर मुहम्मद को दैवी शक्ति की अनुभूति होती थी और प्रायः वे उत्तेजक सम्मोहन में सुध-बुध खोकर सर्वोच्च सत्ता की उपस्थिति का अनुभव करते थे। इतिहासकार इसमें एकमत हैं कि आचार की शुद्धता, नैतिक गुणों एवं चाल-चलन की संभ्रान्तता में युवक मुहम्मद मक्का के निवासियों में बेजोड़ थे। उनके उज्ज्वल चरित्र के कारण ही मक्का निवासी उनका आदर करते थे और श्रद्धावश उन्होंने उनका नाम अल-अमीन अर्थात् विश्वासभाजन रखा था। इस तरह अपने चाचा अबूतालिब के परिवार में मुहम्मद का जीवन शान्ति के साथ कटता रहा। पर अन्ततः मुहम्मद को जीविका की खोज में निकलना पड़ा क्योंकि उनके चाचा अबूतालिब के विस्तृत परिवार के लिए उनकी अपनी आय नाकाफी होती थी।

मुहम्मद को कभी धन का लोभ नहीं हुआ और नहीं व्यापार की आम चिन्ताओं से वे ग्रस्त हुए। पर अबूतालिब के कहने पर और परिवार की बिगड़ती आर्थिक स्थिति देखते हुए, कोरीश कबीले की एक समृद्ध महिला खादिजा के कारवाँ के साथ सीरिया जाने को वे तत्पर हुए।

पच्चीस वर्षीय ध्यानशील मुहम्मद को सीरियाई ईसाइयों के धार्मिक वसूलों को निकट से समझने का एक और अवसर मिला। मरियम और क्रास पर प्रभु यीशु की पूजा का आचार भी यहाँ उन्होंने देखा। माल बेचकर और खादिजा की जरूरत की चीजें खरीदकर मुहम्मद कारवाँ के साथ मक्का लौट आये। युवा मुहम्मद अब औसत से लम्बे कद के, गठे बदन, लम्बी गर्दन और विस्तृत उन्नत सीने के प्रियदर्शी नौजवान थे। उनकी असाधारण रूप से चौड़ी ललाट पर गहरी मोटी भौहें तथा सर से कान तक घने काले घुँघराले बाल थे। उनकी काली बड़ी तीक्ष्ण आँखें बड़ी काली पलकों और लम्बी नुकीली तथा उठी हुई नाक के कारण और भी प्रभावशाली लगती थीं। उनके दाँतों के बीच खाली जगहें थीं और उनकी लम्बी घनी सीने तक पहुँचती दाढ़ी उनकी उपस्थिति में और पुरुषार्थ जोड़ देती थी। उनका प्रबुद्ध चेहरा विचारशील था। उनका रंग गोरा था और उनकी चौड़ी पीठ चलते समय आगे की ओर थोड़ी झुकी रहती थी। वे तेज और हल्की झटक से चलते थे मानो चढ़ाई से कोई उतर रहा हो। उनकी रक्ताभ आँखें जैसे सृष्टि की किसी चीज पर ठहरने से इनकार करती थीं। उनके तेवर कड़े थे और उत्तेजक परिस्थितियों में उनकी भौहें फैलकर उनके उन्नत ललाट पर छा जाती थीं। पर वे सावधान और धीर प्रकृति के थे और खतरे से अलग-थलग रहते थे। उनकी प्रभावशाली काया अपरिचितों को भयभीत कर देती थी अवश्य, पर निकट आने और परिचय प्राप्त होने पर भय और अंदेशा की जगह विश्वास और प्रेम ले लेते थे।

मुहम्मद दिलेर और एक तरह से जिद्दी भी थे। पर उनका एकनिष्ठ भाव, उनकी सामर्थ्य, उनकी दृढ़ता और उनके साहस के कारण सर्वसाधारण उनकी अभ्यर्थना में सर झुकाता था। उनके गुणों को देखकर खादिजा उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुई और अपनी बहन की मार्फत तत्काल उसने उनके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा। मुहम्मद ने हामी भर दी और उनका विवाह हो गया। उनका दाम्पत्य जीवन काफी शुभ साबित हुआ और आनेवाले दस-बारह वर्षों में उनके दो बेटे और चार बेटियाँ हुईं। खादिजा ने ही पहली बार मुहम्मद में मसीही गुणों को पहचाना और अपना सर्वस्व उन्हें समर्पित किया।

इसके बाद से खादिजा ने मुहम्मद की देख-भाल का दायित्व सँभाल लिया और मुहम्मद को अधिकांश समय ध्यान इत्यादि के लिए फुरसत हो गयी। जब वे लगभग

पंतीस वर्ष के थे तब हमारे नायक के जीवन में एक असाधारण घटना हुई जिसका काफी कुछ असर उनके मसीही चरित्र पर पड़ा। एक भयानक बाढ़ पास की तराई से नीचे मक्का शहर में उतर आयी और उसने काबा के पवित्र मन्दिर की दीवार को तहस-नहस कर दिया। मंदिर के नष्ट होने की आशंका से कोरिश पुरोहित ने दीवारों की मरम्मत कर पवित्र जगह पर, जो अबतक खुले आकाश के नीचे थी, एक छत डालनी चाही जिससे मन्दिर की बहुमूल्य विरासतें लुटेरों से सुरक्षित रहें। पर खजाने में पर्याप्त धन नहीं था और सहायता करने वाला भी कोई न था। अचानक पुरोहितों को मालूम हुआ कि आँधी में एक यूनानी जहाज लाल सागर के किनारे मक्का के निकट आ लगा है। पुरोहितों की चिन्ता दूर हुई। वे तत्काल तट पर गये। टूटे जहाज की सारी लकड़ी उन्होंने खरीद ली और उसके कप्तान बीकम को, जो एक योग्य यूनानी कारीगर भी था, काबा के पुनर्निर्माण का काम सौंप दिया। नींव और दीवारें तो बन गयीं, पर अब एक गम्भीर विवाद यह लेकर उठा कि काबा का पवित्र काला पत्थर दीवार में कहाँ जड़ा जाय। मतभेद के कारण चार-पाँच दिनों तक निर्माण का काम ठप्प रहा। कोरिश पुरोहितों के बीच विवाद बढ़ता गया और खून खराबी की नौबत भी आ पहुँचती। तभी एक बृद्ध अरब नागरिक ने इसका एक आसान निबटारा कर दिया। उसकी सलाह पर यह निश्चित हुआ कि काबा के पिछवाड़े के दरवाजे से जो पहला आदमी मन्दिर में घुसे पत्थर की बाबत उसी की बात मान ली जाय या उसे ही पत्थर को अपनी इच्छा से कहीं रख देने को कहा जाय। तभी मुहम्मद ने काबा के उसी पिछले दरवाजे से मन्दिर में प्रवेश किया और सबने एक स्वर से अल-अमीन कह कर उनका अभिवादन किया। चूँकि सब पहले से ही मुहम्मद का बहुत आदर किया करते थे इसलिए उनका निर्णय मान लेने में किसी को आपत्ति होने का प्रश्न ही नहीं था। मुहम्मद ने भी विवादास्पद मसले पर फैसला देना स्वीकार किया। गम्भीरतापूर्वक अपनी चादर फर्श पर फैलाकर पवित्र पत्थर उसपर रख दिया। फिर पुरोहितों को उन्होंने चादर को चारो कोनों से उठाने को कहा और स्वयं उस खास जगह की ओर इशारा किया जहाँ पत्थर रखा जाना था। तबसे आजतक पवित्र पत्थर वहीं रखा हुआ है जहाँ हजरत मुहम्मद ने उसे रखवाया था। इस घटना का मुहम्मद पर भी काफी प्रभाव पड़ा और उन्होंने जान लिया कि आनेवाले दिनों में उन्हें मक्का के लोगों के नेता और निर्णायक की भूमिका अदा करनी होगी।

इधर मुहम्मद ईश्वर और धर्म के सच्चे स्वरूप को जानने के लिए व्याकुल हो रहे थे। लिहाजा वे मक्का से तीन मील दूर हीरा पर्वत की तराई में एकान्त ध्यान के लिए निकल पड़े। यहाँ वे कई दिनों तक कभी अकेले और कभी अपनी धर्मपत्नी खादिजा के साथ एक गुफा में रहे। यह पहाड़ी नितान्त बन्जर और गर्म थी और हमारे नायक के लिए यहाँ कोई भौतिक या प्राकृतिक आकर्षण होने का सवाल नहीं था पर अब वे पूरी तरह आध्यात्मिक चिन्तन में डूबे हुए थे। कभी वे आध्यात्मिक उत्तेजना में विल्कुल स्थिर हो जाते और कभी अस्फुट स्वरों में स्वगत कुछ बोलने लगते। कभी अत्यन्त सुन्दर अरबी छन्दों में इस तरह की बातें कहते, "मैं सच कहता हूँ विश्वास के बिना मनुष्य नष्ट हो जायगा।" कभी वे स्वयमेव परम सत्ता से निर्देश के लिए प्रार्थना करने लगते। कभी पहाड़ी की चोटी पर मरुभूमि की तन्हाई में अकेले खड़े हो चिल्लाते, "समस्त सृष्टि के निर्माता ईश्वर की जय हो। कयामत के दिन के दयालु शासक! हमारी सहायता करो और हमें सही रास्ते पर ले चलो।" बेशक, मुहम्मद के अन्तरतम से निकली यह प्रार्थना उस परम सत्ता तक पहुँची होगी।

पर इस बीच कई वर्ष बीत गये—आध्यात्मिक प्रकाश, सत्य की क्षणिक झलक, सन्देह के तिमिर से आच्छादित लम्बे वर्ष। इस दीर्घ अन्तराल में किसी भी आध्यात्मिक साधक की तरह मुहम्मद की आत्मा भी सत्य का निरन्तर साक्षात्कार पाने के लिए तड़पती रही। उनकी इस मौन विकलता में वे निहायत अकेले थे—अकेले, पर ईमानदार। क्योंकि मुहम्मद उन इने-गिने लोगों में थे जो शताब्दियों बाद भूतल पर उस सर्वशक्तिमान के प्रतिनिधि बनकर आते हैं। पर जबतक उन्हें अपने स्वरूप का पूर्ण ज्ञान न हुआ था तबतक रहस्यमय—एकबार ही सुन्दर और

भयानक—सृष्टि में मुहम्मद की निहायत अकेली आत्मा सर्वशक्तिमान को तलाशती रही। उनकी सहायता के लिए आम लोगों की तरह कोई घिसी-पिटी लीक, कोई मौजूं फार्मूला या आम किंवदन्ती काम नहीं आयी। क्योंकि ऐसे ईमानदार अन्वेषक को इनमें से किसी की जरूरत नहीं होती। उसके प्रश्नों के उत्तर सीधे उस परम सत्ता से आते हैं। "मैं कौन हूँ ? यह अनादि अनन्त सृष्टि कैसी है जिसमे मैं रहता हूँ ? जीवन क्या है ? मृत्यु क्या है ? मेरा विश्वास कैसा हो ? मेरा कर्त्तव्य क्या है ?" सिनाई की मरुभूमि की विस्तृत बालुका-राशि इन प्रश्नों को जैसे पी गयी। हीरा की तराई के पत्थरों ने यह प्रश्न मुहम्मद को अनुत्तरित लौटा दिये। यहाँ तक कि विस्तृत आकाश की असीम ऊँचाइयों से भी कोई उत्तर नहीं मिला। बस अकेले हजरत मुहम्मद की आत्मा अपने अकेलेपन को लेकर स्वयं से यही प्रश्न बेकली से पूछती रही।

आखिरकार, चालीस वर्ष की उम्र में मुहम्मद को अपने प्रश्नों का उत्तर मिला और उन्हें इसका ज्ञान भी हुआ कि परम सत्ता ने उन्हें मक्का के पथभ्रष्ट लोलुप लोगों का मसीहा बनाकर भेजा है। इसी समय की मुहम्मद की पवित्र वाणी ही कोरानशरीफ में लिपिबद्ध है जो भाव की अवस्था में अनायास ही उनकी जबान पर आ जाया करती थी। मुहम्मद की तत्वपूर्ण बातें सुनकर उनके दोस्तों और सम्बन्धियों को हैरत होती थी क्योंकि वे जानते थे कि मुहम्मद को लिखना-पढ़ना नहीं आता था। मुहम्मद के पहले मुरीदों में उनकी पत्नी खादिजा, उनके दो गोद लिए हुए पुत्र जीद तथा अली और उनके अजीज अबू बकर थे। शुरू के दिनों में सम्मोहन की उत्तेजना महसूस करने पर भी मुहम्मद को यह सन्देह रहता था कि उनकी अवस्था ईश्वरावेश के कारण ऐसी थी याकि उन पर शैतान का असर था। ऐसे समय में खादिजा का अटूट विश्वास उनके लिए अकेला सम्बल था क्योंकि खादिजा को पक्का विश्वास था कि मुहम्मद पवित्र भाव में हैं।

अन्त में जिब्रील स्वयं खुदा का पैगाम लेकर उनके पास आया और प्रसिद्ध सुरा ९६ में लिपिबद्ध आदेश उसने दिया, "समस्त संसार के स्रष्टा का नाम लो जिसने मनुष्य को अज्ञान के बदले ज्ञान दिया है। मैं सच कहता हूँ, सम्पत्ति से घिर कर मनुष्य उसे भूल जाता है। निश्चय ही सबको उसी के पास लौट कर जाना होगा। क्या तुम सोचते हो हमारे नौकर को प्रार्थना करने से मना करनेवाला ठीक करता है ? या कि वह दया का पात्र है ! ईश्वरी भाव को झूठ बताकर टाल जानेवाला क्या ठीक कहता है ? क्या वह नहीं जनता कि खुदा सब देखता है ! निश्चय ही, यदि वह अपनी आदत से बाज नहीं आता तो हम उसके बाल खींच कर घसीटेंगे। सच हैं, ऐसे लोगों की बात पर कान नहीं देकर खुदा को प्यार करना चाहिए।"

खुदा का पैगाम पाकर मुहम्मद खुदा के नाम पर ही बोलने लगे। इसीलिए कुरानशरीफ का हर सुरा 'पढ़ो' या 'कहो' से शुरू होता है। अब मुहम्मद पैगम्बर बन चुके थे। पर मक्का के लोगों के बीच उन्हें पागल, पिशाचसिद्ध इत्यादि करार दिया गया। परेशान होकर मुहम्मद एक कालीन पर लेट गये और कपड़ों से सारा बदन ढककर अनायास ही फिर आवेश में आ गये। एक बार फिर खुदा का पैगाम लेकर फरिश्ते ने उनसे कहा "कपड़ों से ढंके पैगम्बर ! उठो और खुदा का गुणगान करो।" इस तरह मुहम्मद न केवल एक पैगम्बर थे बल्कि धर्म का प्रचार करने के लिए उन्हें सीधा ईश्वर का आदेश प्राप्त था।

हजरत मुहम्मद को ईश्वरीय दर्शन अब लगातार होते रहे। खुदा में उनका यकीन ऐसा हो गया कि एक कदम भी बिना उनके बताये चलने से वे मजबूर हो गये। खुदा का संदेश पाने के ठीक पहले मुहम्मद की शकल वेदना-ग्रस्त हो जाया करती और वे उत्तेजना या सम्मोहन में बेहोश हो जमीन पर गिर जाया करते। अक्सर ऐसे संदेश बिना किसी पूर्व-सूचना के उन्हें मिला करते। मुहम्मद स्वयं इस विषय में कहा करते, "संदेश मुझे दो तरह से मिला करते हैं। कभी तो जिब्रील किसी भी दूसरे आदमी की तरह मेरे सामने आकर खड़ा हो खुदा का आदेश सुनाता है और कभी यह मेरे दिल को चीरता

हुआ घन्टी की आवाज की तरह मुझे मिलता है और यह बेइन्तहा तकलीफ देता है।" इन्हीं ईश्वरी उत्तेजनाओं के कारण मुहम्मद के बाल असमय ही सफेद हो गये। मुहम्मद को प्राप्त ईश्वर के सन्देश ही कुरान में लिपिबद्ध हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है वह जिसे पढ़ा या दुहराया जाय।

४४ वर्ष की उम्र में आते-न-आते मुहम्मद को पक्का यकीन हो आया कि वे पैगम्बर होने के लिए ही संसार में लाये गये हैं। अब मुहम्मद ने मूर्त्ति-पूजा के खिलाफ उपदेश देने शुरू किये और कहा ईश्वर एक है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है।" अपने आस-पास के लोगों की परवाह न कर उन्होंने सत्य का प्रचार जारी रखा और पहले चार वर्षों में चालीस शिष्य बनाये। इस तरह तीन वर्ष प्रचार कर उन्होंने कोरिश जाति के लिए खुला सन्देश दिया। पर काबा की मूर्तियों की पूजा करने वाले कोरिश पुरोहितों ने इसका एतराज किया। उन्होंने सोचा, उनके पूर्वजों से चला आ रहा उनका धर्म खतरे में था। बस, फिर क्या था! मुहम्मद के नये धर्म को कुचलने की साजिश शुरू हुई। हिंसा की कई वारदातों के बाद मुहम्मद के एक शिष्य ने थोड़े से अन्य भक्तों के साथ मक्का के पास एक तराई में ध्यानादि के लिए जगह ली। रास्ते में उन्हें तगड़े विरोध का सामना करना पड़ा और काफिरों से लड़ाई भी करनी पड़ी। इसी दौरान पहली बार इस्लाम के नाम पर खून खराबा हुआ जब मुहम्मद के शिष्य साद ने ऊँट के फरसे से एक काफिर को मारा।

समय के साथ मुहम्मद के शिष्यों की संख्या बढ़ती गयी और साथ ही बढ़ता गया कोरिश पुरोहितों का उनसे वैमनस्य और द्वेष। अपने चाचा अबू तालिब के संरक्षण में मुहम्मद पर तो आँच न आयी पर उनके शिष्यों को बुरी तरह तबाह किया गया। मुहम्मद के धर्म प्रचार के पाँचवे वर्ष के सातवें महीने में मुहम्मद के ग्यारह शिष्यों को अपनी पत्नियों के साथ जीवन-रक्षा के लिए अबीसिनिया भागना पड़ा, जहाँ कोरिश पुरोहितों ने भरसक उनका पीछा किया। इसे पहला हिजरा कहते हैं।

अबीसिनिया में पैगम्बर के एक शिष्य ने वहाँ के ईसाई राजा को जाकर कहा "जहाँपनाह, हम अज्ञानवश मूर्त्ति पूजा करते थे, मृत पशुओं के शरीर खाया करते, पड़ोसियों को परेशान करते और कमजोर लोगों की सम्पत्ति बर्बाद करते थे। फिर खुदा ने हमारे बीच हममें से ही एक को हमारा पैगम्बर बनाकर भेजा जिसकी सचाई, ईमानदारी और धार्मिक सूझ-बूझ से हम पहले से वाकिफ थे। उसने हमें खुदा के रास्ते पर लाया और बताया कि कि खुदा बस एक है और उसकी पूजा मूर्त्तियों में नहीं की जा सकती। उसने हमें इबादत करना, गरीबों की सहायता करना और उपवास रखना सिखलाया। उसने हमें सच बोलना सिखाया और यह कहा कि दूसरे की दी हुई चीज उन्हें पूरी की पूरी वापस कर देनी चाहिए। उसने हमें बुरे काम करने से मना किया और पड़ोसियों को प्यार करना सिखाया। उसके कहने से हमने आपस में खून खराबा बन्द कर दिया। उसने हमें निराश्रितों के धन छीनने के लिए धिक्कारा और औरतों पर शक करने के लिए कोसा। हमने उसकी बातें ध्यान से सुनीं और उसकी फटकार पर गौर किया है। हमें मुहम्मद की सचाई पर यकीन है और उसकी मार्फत मिले खुदा के आदेश हम मानते हैं। हमारे दकियानूस पुरोहितों को हमारे विचार और कर्म में यह परिवर्तन गवारा नहीं और उन्होंने फिर से हमें गलत काम करने, बेकार के झगड़े फसाद और मूर्त्ति पूजा के लिए भरसक कोशिश की और हमारे न मानने पर हमें परेशान किया। इस लिए हम अपना देश छोड़कर आप जैसे सहनशील राजा के मुल्क में शरण लेने आये हैं।'

इस दरम्यान मुहम्मद के दिव्य दर्शनों का सिलसिला चलता रहा। जिब्रील ने मुहम्मद को क्रमशः जन्नत और दोजख, इस्लाम के विश्वासियों के स्वर्गिक सुख और काफिरों के बेइन्तहा तकलीफों इत्यादि के विषय में बताया। मुहम्मद द्वारा प्रचारित धर्म अब इस्लाम यानी 'आत्मा का ईश्वर को समर्पण' के नाम से जाना गया और उनके शिष्य मुसलमान कहे गये। इस्लाम को न मानने वाले काफिर जाने गये। पचास की उम्र में मुहम्मद की

प्रिय पत्नी खादिजा का देहान्त हो गया। अबतक मुहम्मद अरबों में प्रचलित बहु विवाह—प्रथा के बावजूद एक पत्नी के साथ रहे। पत्नी की मृत्यु के एक मास के भीतर उनके चाचा अबू तालिब खुदा के प्यारे हो गये। अबू तालिब मुहम्मद के बचपन के सहारे, युवावस्था के अभिभावक और बाद के दिनों के संरक्षक थे। मुहम्मद का दिल टूट गया। अब कोरिशों के प्रचार की चोट सीधे पैगम्बर तक पहुँचने लगी।

५२ वर्ष की उम्र में जिब्रील के निर्देशन में मुहम्मद को सातवें आसमान में खुदा के रू-ब-रू दर्शन हुए जिसमें उन्हें प्रतिदिन तीन के बदले पाँच बार इबादत करने का आदेश प्राप्त हुआ। कोरिश पुरोहितों ने अब मुहम्मद की जान लेने की साजिश की। ६२२ में पैगम्बर को मदीना भागना पड़ा जहाँ वे आठ दिन चलकर २८ जून को पहुँचे। उनके सौ के करीब सारे शिष्य अपने परिवारों के साथ मदीना आ गये। इसे दूसरा हिजरा कहते हैं। मदीना में उन्होंने जमीन खरीदी और पहला इबादतखाना या मस्जिद का निर्माण किया। वहाँ जुमा (शुक्रवार) के दिन उन्होंने पहली बार नमाज पढ़ी। तब से यह दिन नमाज के लिए पवित्र दिन माना गया।

पैगम्बर के जीवन के बाकी दिन मदीना में गुजरे। ६३० ई० में दस हजार मुसलमानों की सेना के साथ वे मक्का आये और काबा में जाकर वहाँ की मूर्त्तियाँ हटा कर इस्लाम की स्थापना वहाँ की। मक्का-विजय के बाद मुहम्मद ने कहा 'हे ईश्वर! अब मैंने अपना संदेश पहुँचाकर काम पूरा किया।' फिर वे मदीना लौट आये वहाँ ६३२ ई० में ६३ वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु हो गयी।

किसी भी पैगम्बर को इतनी मुसीबतों का सामना नहीं करना पड़ा जितना मुहम्मद को और किसी ने इतनी परेशानियों में भी हमारे अरब के नायक के बराबर हिम्मत और दृढ़ता नहीं दिखलायी। उनके उपदेश सादे पर चिनगारी से युक्त थे और अरबों के गर्म खून को माफिक आते थे। अपने उपदेशों से मुहम्मद ने अव्यवस्थित और झगड़ालू अरब कबीलों को एक मुल्क में सुगठित किया। यह और किसी पैगम्बर के वश की बात नहीं थी।

मुहम्मद ने ईश्वर और उसके पैगम्बर की एकता का उपदेश दिया और जो भी उनके इस उपदेश को मानता है अनन्त जीवन और स्वर्गिक सुख का अधिकारी होता है। मुहम्मद के अभूतपूर्व जीवन पर कार्लाइल ने लिखा है, "अरबों के लिए यह अन्धकार से प्रकाश में जन्म के बराबर था। इसके पहले गरीब अरब गड़ेरिये, रेगिस्तान में यूँ ही संसार से बेफिक्र गुजर-बसर करते थे। भगवान ने उनके पास अपना पैगम्बर भेजा जिसने उन्हें यकीन करने लायक उपदेश दिये और जैसे जादू चल गया। रातोरात अरबों को दुनिया जान गयी।" आज ग्रेनाडा तो कल दिल्ली पर अरबों का शासन हो गया। अरबों की हिम्मत और बहादुरी का लोहा संसार मानने लगा। विश्वास बड़ी चीज है। किसी भी कौम की तवारीख यकीन की बुनियाद पर खड़ी होती है। ऐसा लगता है जैसे इस्लाम के रूप में एक चिनगारी मानो रेगिस्तान की काली बालू पर पड़ी हो और बालू जैसे बारूद होकर फूट पड़ी हो।

(स्वामी अभेदानन्द रचित एक आलेख पर आधारित)

एक दिन मैदान में जाते-जाते एक अवधूत ने देखा कि सामने बड़ी सजधज के साथ बाजा-गाजा बजाते हुए एक बारात चली आ रही है और एक तरफ एक व्याधा एकाग्रचित होकर अपने लक्ष्य की ओर निशाना बाँधे बैठा है। बारात के साथ जो गाना-बजाना हो रहा था, उसकी ओर उस व्याधे ने एक बार भी नहीं देखा। अवधूत ने तब उस व्याधे को नमस्कार करके कहा, "आप मेरे गुरु हैं। मैं जब कभी भगवान् का ध्यान करने बैठूँ, तब उनकी ही ओर मेरा चित्त इसी तरह एकाग्र रहे।

—भगवान् श्रीरामकृष्ण देव

चौथी जुलाई के प्रति

—स्वामी विवेकानन्द

(स्वामी विवेकानन्द १८९८ ई० में २५ जून को अपनी कुछ अमरीकी शिष्याओं के साथ काश्मीर-भ्रमण करने गये थे। ४ जुलाई का आगमन होने ही वाला था जो अमेरिका का स्वाधीनता-दिवस है। स्वामी जी ने उक्त स्वाधीनता-दिवस के उपलक्ष्य में अपनी अमरीकी शिष्याओं के लिए एक लघु उत्सव मनाने का गुप्त रूप से आयोजन किया। ४ जुलाई की प्रभात-वेला में पत्र-पुष्प एवं नव पल्लवों से सुशोभित नाव पर यह मनोरम आयोजन हुआ जिसे देखकर अमरीकी शिष्याएँ विस्मय-विमुग्ध हो उठीं। उसी अवसर पर स्वामी जी ने बड़े आह्लाद के के साथ To the 4th of July (४ जुलाई के प्रति) शीर्षक स्वरचित एक अंग्रेजी कविता पढ़कर अपनी शिष्याओं को सुनायी। प्रस्तुत कविता उसी का हिन्दी रूपान्तर है, जिसे हमने श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर से प्रकाशित पुस्तक कवितावली से साभार लिया है।

इस कविता की रचना के ठीक चार वर्ष बाद सन् १९०२ ई० की ४ जुलाई को स्वामी जी अपनी लीला समाप्त कर देह-मुक्त हो गये। यह कविता स्वामीजी की आगत देह-मुक्ति की भविष्य-लिपि थी या अमरीकी स्वाधीनता के गान के माध्यम से विश्व के अन्य पराधीन राष्ट्रों की भावी मुक्ति की मंगल-गाथा इसे कौन जानता है?

—सम्पादक)

काले बादल कट गये आकाश से
रात को बाँधे हुए थे जो समाँ—
पृथ्वी पर तानी थी चादर, इस तरह!

आँख खोली, जादू की लकड़ी फिरी
चिड़ियाँ चहकीं, साथ फूलों के उठे
सर,—सितारे जैसे चमके ताज के—
ओस के मोती लगे, स्वागत किया
क्या तुम्हारा झूमकर, झुककर! खुली
और फैली दूर हक झीलें, खुशी
जैसे, आँखें कमलों की फाड़े हुए
दर्श करती हैं तुम्हारा हृदय से।

कुल निछावर, ज्योति के जीवन, क्या
आज अभिनन्दन तुम्हारा. धन्य है।
आज, रवि, स्वाधीनता की फूटी कली!
राह देखी विश्व ने, कैसे खिली,
देश कालिक खोज की; तुमसे मिले;

छोड़ा है घर, मित्र, छोड़ी मित्रता।
खोजा तुमको, आवारा मारा फिरा,
गुजरा दहशत के समन्दर से, कभी
सघन पहले के गहन वन से; लड़ा
हर कदम पर प्राणों की बाजी लिये।

वक्त वह, हासिल निकाला काम का,
प्यार का, पूजा का, जीवन-दान का;
हाथ उठाया, सँवरकर पूरा किया।
फिर तुम्हीं ने स्वस्ति को बाँधी कमर
जगगणों पर मुक्ति की डाली किरण।

देव, चलते ही चलो बेरोकटोक,
विश्व को दुपहर न जबतक घेर ले,
कर तुम्हारा हर जमीं जब तक न दे,
स्त्री-पुरुष जब तक न देखें चाव से,—
बेड़ियाँ उनकी कटीं, उल्लास की
जाँ नयी जब तक न समझें आ गयी।

———

१३ जुलाई को जन्मतिथि के अवसर पर—

स्वामी रामकृष्णानन्द

—स्वामी गंभीरानन्द

अमरीका प्रवास से लौटने पर कोलम्बो से अलमोड़ा तक की विजय यात्रा के क्रम में पहली बार मद्रास में स्वामी विवेकानन्द ने सम्पूर्ण भारत वर्ष में नवजागृति लाने की अपनी योजना की चर्चा एक जनसभा में की। मद्रास के नागरिकों ने तब उनसे अनुरोध किया था कि वे अपने गुरुभाइयों में से एक को मद्रास में एक मठ की स्थापना हेतु भेजें जो उनके द्वारा देश-विदेश में प्रचारित सर्वधर्म समानत्व के सन्देश और जनहित के कार्यों का केन्द्र हो सके। उत्तर में स्वामीजी ने कहा, "मैं तुम्हारे दक्षिण के सबसे कट्टर सनातन धर्मी से भी बढ़कर सनातन वादी को यहाँ भेजूँगा जो इसके साथ ही ध्यान और पूजा में भी अद्वितीय है।" कलकत्ते से प्रस्थान करने वाले अगले ही जहाज से स्वामी रामकृष्णानन्द स्वामीजी का सन्देश पाकर मद्रास के लिए रवाना हो गये।

कुछ ही शब्दों में स्वामीजी का उपर्युक्त एक वाक्य स्वामी रामकृष्णानन्द के व्यक्तित्व का पर्याप्त परिचय दे देता है। दक्षिण भारत प्राचीन काल से ही सनातन हिन्दू धर्म का मुख्य स्थल रहा है। परम्परा का तारतम्य कायम रखते हुए सनातन हिन्दू धर्म में नये प्राण फूँकने के लिए निश्चय ही एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो आदर्शों में अटूट श्रद्धा और प्राचीन काल से चले आ रहे धार्मिक आचारों में दृढ़ विश्वास रखते हुए बौद्धिकता में भी बढ़चढ़ कर हो। शशि महाराज, जिस नाम से स्वामी रामकृष्णानन्द भक्तों में जाने जाते थे, इन सब गुणों से सम्पन्न थे और साथ ही वे दया एवं सहानुभूति से परिपूर्ण एक सरल हृदय पवित्रात्मा भी थे।

स्वामी रामकृष्णानन्द के पूर्वाश्रम का नाम शशिभूषण चक्रवर्ती था। आपका जन्म हुगली जिले के एक सनातन ब्राह्मण परिवार में १३ जुलाई, १८६३ को हुआ। आपके पिता श्री ईश्वरचन्द्र चक्रवर्ती धार्मिक कर्मकाण्ड के पक्के अवलम्बी और माँ दुर्गा के अनन्य उपासक थे। बालक शशि को उच्च, सुदृढ़ और पवित्र चरित्र पिता से विरासत में मिला।

स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर शशि ने मेट्रोपॉलिटन कालेज, कलकत्ता, में प्रवेश किया। उनकी विलक्षण प्रतिभा थी और संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य, गणित और दर्शन में तो उनकी कोई सानी न थी। कालेज में ही शशि और उनके रिश्ते के भाई शरतचन्द्र जो बाद में स्वामी सारदानन्द हुए—दोनों ही ब्रह्म समाज से प्रभावित हुए। शशि तो समाज के अग्रगण्य नेता केशब चन्द्र सेन से काफी घनिष्ठ हो गये और उनके कहने से उनके लड़कों को निजी तौर पर पढ़ाने भी लगे।

अक्टूबर, १८८३ के किसी दिन शशि और शरतचन्द्र, कुछ अन्य किशोर मित्रों के साथ श्रीरामकृष्ण देव को देखने पहली बार दक्षिणेश्वर आये। श्रीठाकुर ने स्मितहास्य के साथ स्वागत किया और बहुत देरतक आध्यात्मिक जीवन में त्याग और वैराग्य की आवश्यकता पर उनसे बातें करते रहे। शशि तब कालेज के प्रथम वर्ष कला के छात्र थे और उनके सभी मित्र मैट्रिक की परीक्षा की तैयारी में लगे थे। चूँकि उस किशोर समुदाय में सबसे वरिष्ठ थे इसलिए सारी बातें उन्हीं को लक्ष्य कर कही जा रही थीं। श्रीरामकृष्ण देव के पूछने पर कि उनका विश्वास साकार ब्रह्म में है या निराकार

में, शशि ने कहा कि मैं ईश्वर के अस्तित्व के विषय में ही पूरी तरह आश्वस्त नहीं हूँ इसलिए इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकता। श्रीरामकृष्ण उनके इस स्पष्ट उत्तर से अत्यंत प्रसन्न हुए। दूसरी ओर शशि और शरत भी श्री ठाकुर के व्यक्तिव से बहुत प्रभावित हुए और दोनों ने तत्क्षण मन ही मन उन्हें गुरुवत् मान लिया। इन दोनों के विषय में बाद के दिनों में श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि पूर्व जन्म में ये प्रभु यीशु के पार्षद थे।

यद्यपि शशि एक प्रतिमाशाली विद्यार्थी थे, तथापि श्रीरामकृष्ण से साक्षात्कार के बाद से कालेज की पढ़ाई में उनकी रुचि कम होने लगी। चुपचाप धीरे-धीरे आध्यात्मिक जीवन में वे आगे बढ़ने लगे। उनकी तीक्ष्ण बुद्धि, तन्दुरुस्त शरीर और उत्तम चरित्र अब एक साथ ईश्वर दर्शन के लक्ष्य पर केन्द्रित होते गये। एक दिन दक्षिणेश्वर में वे कुछ फारसी पुस्तकों के अध्ययन में डूबे थे ताकि सूफी कवियों की मूल रचनाएँ स्वयं पढ़ सकें। इसी बीच श्रीठाकुर ने उन्हें बुलाया और आप अध्ययन में इतने लीन थे कि तीन बार श्रीठाकुर के पुकारने पर कहीं सुन सके। श्रीरामकृष्ण ने इनके आने पर पूछा कि वे क्या कर रहे थे और यह जानकर कि आप पुस्तकों में डूबे हुए थे, शान्त भाव से कहा, "यदि पढ़ाई के कारण अपना कर्त्तव्य भूलोगे तो तुम्हारी सारी भक्ति शेष हो जायेगी। बस, शशि ने फारसी की अपनी सारी किताबें उसी समय गंगा में फेंक दीं और तबसे किताबी ज्ञान की ओर उनकी रुझान और भी कम हो गयी।

शशि तब बी० ए० अन्तिम वर्ष के छात्र थे। परीक्षा के दिन निकट आ रहे थे और उन्हीं दिनों श्रीरामकृष्ण कलकत्ते में श्यामपुकुर में रोगाक्रान्त थे। युवक शिष्य को अध्ययन और गुरु-सेवा में से एक को चुनना था। बिना किसी उधेड़ बन के उन्होंने तन मन और आत्मा से गुरु-सुश्रूषा करने का निश्चय किया। श्रीठाकुर के साथ बाद में आप काशीपुर उद्यान गृह भी गये जहाँ श्रीरामकृष्ण की इहलीला के शेष दिन बीतने थे। शशि सेवा के साक्षात अवतार ही थे। दूसरे शिष्यों ने भी श्री ठाकुर की सेवा में जी-जान लगा दी थी, पर शशि की तो बात ही निराली थी। इन्हें विश्राम या अवकाश से बिल्कुल कोई मतलब न था। आध्यात्मिक साधनाओं को भी इन्होंने पूरी तरह तिलाञ्जलि देकर केवल गुरुसेवा का व्रत लिया। इसके अतिरिक्त, भौतिक सेवा के पीछे था उनका मानसिक बल जिसका एकमात्र सम्बल था गुरु के लिए उनकी श्रद्धा और भक्ति। श्री ठाकुर की इहलीला के अन्तिम क्षणों तक शशि पूरे उत्साह और जीवन्त आशा के साथ उनकी सेवा सुश्रूषा में लगे रहे। महासमाधि के पूर्व श्रीरामकृष्ण देव पाँच छः तकियों के सहारे—जिन्हें शशि ने संभाल रखा था—थोड़ा बैठे थे और शशि उन्हें पंखा झल रहे थे। इसी बीच श्री ठाकुर महासमाधि में चले गये और कुछ देरतक शिष्य यह भी न समझ सके कि श्री ठाकुर की यह भाव समाधि है या उनका महा निर्वाण। जिन्होंने श्री ठाकुर की इस अवस्था को भावसमाधि के सिवा और कुछ बताया उन्हें शशि ने फटकारा और गुरु भाइयों के साथ देरतक धर्मग्रन्थों के पाठ में लगे रहे। पर उनकी आशा के विपरीत श्री ठाकुर के शरीर में जीवन के लक्षण न दीख पड़े और डाक्टरों ने अन्ततः उनकी अवस्था को महासमाधि कह ही दिया।

सबसे कठोर परीक्षा तो श्मशान घाट में होनी थी। परस्पर विपरीत भाव शशि के हृदय को आलोड़ित करने लगे। महासमाधि के समय श्री ठाकुर ने सभी शिष्यों पर आनन्द की जो वर्षा की थी पहले तो उसके आवेश में शशि ने ऊँचे स्वर में उनकी जय-जयकार की, इसके तुरन्त बाद एक भीषण एकाकीपन ने उन्हें आ घेरा और वे भयंकर शोक से व्याकुल हो उठे। श्री ठाकुर का पार्थिव शरीर जब पूरी तरह आग की लपटों को समर्पित हो चुका, तब श्मशान की ठहरी हुई सी शान्ति में शशि ने श्री ठाकुर के शरीर के पार्थिव अवशेष इकट्ठे किये।

फिर महत्तर उदासीनता का अन्तराल प्रारम्भ हुआ। श्री ठाकुर के शिष्यों ने बड़ानगर में एक मठ की स्थापना की। मठ के युवा संन्यासियों को प्रेम बन्धन में एकसाथ रखकर उनकी तपस्या को नियन्त्रित करने में

शशि ने माता का दायित्व अनायास ही अपने ऊपर ले लिया। जब गुरुभाइयों ने कठोर आध्यात्मिक साधना के क्रम में शरीर के रहने न रहने की चिन्ता भी छोड़ दी, शशि ने इसका प्रबन्ध सर्वदा रखा कि मठ में भुखमरी की नौबत न आये। यहाँ तक कि कुछ समय तक मठ का खर्च चलाने के लिए उन्होंने एक स्कूल में पढ़ाने का काम भी ले लिया। वे उन दिनों अपने बान्धवों से कहा करते, "तुम सब बेफिक्र हो अपनी आध्यात्मिक साधना में लगे रहो। तुम्हें और किसी चीज की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। मैं भिक्षाटन करके भी मठ का काम-काज चलाऊँगा।" इन वरद दिनों को यादकर बाद में स्वामीजी ने एकबार कहा था, "अहा! आदर्श के प्रति क्या ही अलौकिक दृढ़ता शशि में थी! वह हमारी माता के समान था। वही हमारे भोजन का प्रबन्ध किया करता था। हम सब तीन बजे प्रातः उठ जाया करते और कुछ स्नान कर या कुछ वैसे ही पूजा-गृह में जाकर जप-ध्यान में लीन हो जाया करते। कभी-कभी जप-ध्यान का क्रम चार-पाँच बजे अपराह्न तक चलता रहता। और शशि इस बीच हमारा भोजन रख प्रतीक्षा किया करता। कभी-कभी भोजन के लिए वह जबरन जप-ध्यान से उठा लाता। किसको परवाह थी उन दिनों कि संसार था या नष्ट हो गया।"

युवा संन्यासियों के माता-पिता आये दिन उन्हें वापस घर ले चलने को मनाने आते पर किसी के कान पर जूँ न रेंगती। शशि के पिता आये, शशि की बहुतेरी आरजू मिन्नत उन्होंने की, धमकाया भी, पर कोई असर न हुआ। बेटे ने बेलौस कह दिया, "घर-संसार मेरे लिए मानों शेर-भालू से भरे पड़े हैं।" समयान्तर में लड़कों ने औपचारिक विधि से संसार त्याग कर संन्यास ग्रहण करने की ठानी। उनके नये नाम भी दिये गये। शशि बने रामकृष्णानन्द। प्रारम्भ में युवा संन्यासियों के अगुआ नरेन्द्र नाथ (स्वामी विवेकानन्द) ने स्वयं के लिए यह नाम सोच रखा था पर श्रीरामकृष्णदेव के लिए शशि की अन्यतम श्रद्धा और भक्ति देखकर उन्होंने उन्हें ही इस नाम के लिए उपयुक्त समझा। सचमुच श्रीठाकुर के लिए शशि महाराज का प्रेम एक अलौकिक कथा की तरह प्रतीत होता है। श्रीठाकुर के देहान्त से शशि महाराज के लिए उनकी निरन्तर जीवन्त उपस्थिति में कोई बाधा मानो आयी ही नहीं। उनके अवशेषों की शशि महाराज ने उसी निष्ठा से आराधना की जैसे कि उनके जीवन-काल में उनकी की थी। बारी-बारी से दूसरे गुरुभाई संन्यास धर्म के अनुरूप तीर्थाटन पर निकल गये। शशि महाराज ही सन्तरी सरीखे मठ से लगे रहे जहाँ अस्थायी रूप से श्रीठाकुर के पार्थिव अवशेष रखे गये थे। श्रीठाकुर की अहर्निश आराधना और युवा संन्यासी यायावरों की कदाचित वापसी के लिए केन्द्र के रूप में मठ को कायम रखने का दायित्व शशि महाराज ने स्वयमेव और अनायास ही अपने ऊपर लिया। उन्होंने एकबार भी तीर्थ पर जाने को नहीं सोचा। अखिल सौर मण्डल में उनके लिए मठ से पवित्र जगह हो ही क्या सकती थी जहाँ श्रीठाकुर के पार्थिव अवशेष रखे थे? श्रीठाकुर की पूजा की सम्पूर्ण तैयारियों की निगरानी वे स्वयं करते थे; स्वयं गंगा से पानी लाने, फूल चुनने से लेकर नैवेद्य के लिए प्रसाद सामग्री तैयार करने तक वह सब काम स्वयं किया करते। श्रीठाकुर को निवेदित किये बिना कुछ भी आहार वे ग्रहण नहीं करते थे। भक्ति की अन्तरात्मा मानो शशि महाराज में प्रवेश कर गयी थी।

श्रीठाकुर के लिए अलौकिक श्रद्धा के अनुरूप ही स्वामीजी के प्रति, जिन्हें श्रीरामकृष्ण किशोर शिष्यों का नेतृत्व सौंप गये थे, शशि महाराज का प्रेम भी विस्मयजनक था। स्वामीजी का एक शब्द भी उनके लिए आदेश से बढ़कर था। स्वामी विवेकानन्द की छोटी-से-छोटी इच्छा की पूर्ति के लिए वे बड़ी-से-बड़ी कठिनाई से जूझने तथा कुछ भी त्याग करने को सदा तैयार रहते। यह उत्साह तो वैसे सारे गुरुभाइयों में था पर शशि महाराज में कुछ इस तरह यह भरा पड़ा था कि कभी-कभी स्वामीजी उनके इस प्रेम के व्याज से उनके साथ चुहल भी किया करते। शशि महाराज व्यवहार में घोर सनातनी थे। एक दिन स्वामीजी ने कहा, "शशि, मेरे लिए तुम्हारे प्रेम की परीक्षा मैं लूँगा। क्या तुम किसी मुसलमान की दुकान से एक डबल रोटी ला सकते हो?" कहना न होगा कि अपने कट्टर सनातन धर्मी आचार के बावजूद शशि महाराज

तुरन्त स्वामीजी के लिए डबल रोटी खरीद लाये। पश्चिम प्रवास से लौटकर जब स्वामीजी ने उन्हें प्रचार कार्य हेतु मद्रास में रखना चाहा तब भी उतनी ही प्रसन्नता से आप उनके आदेशपालन को प्रवृत्त हुए। मद्रास आने का अर्थ था कई वर्षों की अपनी बहुतेरी आदतों को अचानक छोड़ना तथा श्रीठाकुर के पार्थिव अवशेषों से, जिनकी इतनी लगन से आप पूजा करते आ रहे थे, कई सहस्र मील दूर आना। पर स्वामीजी के आदेश पालन के रास्ते में यह सब कुछ न आ सका।

शशि महाराज का सहर्ष मद्रास आना एक ओर जहाँ स्वामीजी के प्रति उनके अप्रतिम प्रेम का परिचायक है वहीं उनकी उच्च आध्यात्मिक स्थिति और लौकिक बन्धनों से स्वतंत्रता का द्योतक भी है। किसी अन्य साधारण मनुष्य के लिए कलकत्ते के मठ को छोड़कर चटपट राजी खुशी से मद्रास आ जाना कतई सम्भव नहीं होता, विशेषकर जब हम याद करते हैं कि मठ में वर्षों तक प्रति-दिन नियम से शशि महाराज गुरु के भौतिक अवशेषों की आराधना करते आ रहे थे और अपनी इस नियमित साधना का व्यतिक्रम कर अन्य गुरुभाइयों की तरह तीर्थाटन इत्यादि करने की भी आपने कभी नहीं सोची। इसी मठ से स्वामीजी का पत्र पाते ही बिना दूसरी बार विचार किए अगले ही जहाज से मद्रास के लिए रवाना होना शशि महाराज सरीखे वैरागी के लिए ही सम्भव था जिन्हें किसी भी प्रकार का लौकिक माया-बन्धन श्रीगुरु के पार्थिव अवशेषों या मठ के लिए भी—छू तक नहीं गया था। स्वामीजी ने भी बंगाल के भीषण अकाल के दिनों में जनहित कार्य के लिए रुपयों की कमी होने पर कितने परिश्रम और अरमान से खरीदी गई बेलुड़ मठ की जमीन बेचने का प्रस्ताव कर एकबार ऐसे ही वैराग्य का परिचय दिया था। श्रीरामकृष्ण के जीवन काल की एक घटना भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। दक्षिणेश्वर मन्दिर के मालिकों के प्रति किये गये किसी अपराधवश श्रीरामकृष्णदेव के भानजे और कई वर्षों से उनके सेवक हृदयराम को मन्दिर से निकल जाने का आदेश हुआ। मन्दिर के पुरोहित इत्यादि द्वेषवश पहले से ही श्रीरामकृष्ण को भी किसी तरह वहाँ से हटाने का मौका ढूंढ़ रहे थे। बस अवसर का लाभ उठा कर उनमें से किसी ने श्रीरामकृष्ण को आकर बताया कि मालिकों ने उन्हें भी मन्दिर छोड़कर चले जाने को कहा है। श्रीरामकृष्ण तब दक्षिणेश्वर के अपने कमरे में भक्तों के साथ ईश्वरी चर्चा में लगे थे। मालिकों का आदेश सुनकर तुरन्त बिना किसी भाव परिवर्तन अथवा झिझक के आपने अपना तौलिया कन्धे पर रखा और कमरे से निकलकर दक्षिणेश्वर छोड़ने को तत्पर हुए जहाँ छब्बीस वर्षों तक उन्होंने भुवनमयी माँ की आराधना की थी, माँ ने कितने ही अलौकिक दर्शन उन्हें दिये थे; जहाँ हाल तक माथुर बाबू के जीवनकाल में आपका मालिकों के कुलगुरु की तरह सम्मान किया जाता था तथा जिस दक्षिणेश्वर के प्राङ्गण में आपके कितने ही निकट कुटुम्ब के लोगों की पुण्य प्यारी स्मृतियाँ जुड़ी थीं। पर परमहंसदेव को इन भौतिक बन्धनों से क्या लेना-देना! वैसे ही प्रफुल्ल चित्त मन्दिर के मुख्य द्वार तक जा पहुँचे और बाहर निकलने ही वाले थे कि माथुर बाबू के पुत्र त्रैलोक्य ने, जिनके नाम मन्दिर छोड़कर चले जाने का झूठा आदेश पुरोहितों ने श्रीरामकृष्ण को सुनाया था, दौड़कर उनके पाँव पकड़ लिये। "पर क्या तुमने मुझे दक्षिणेश्वर छोड़कर चले जाने को नहीं कहा?" श्रीरामकृष्ण ने सरलता से पूछा। "नहीं बाबा" त्रैलोक्य ने गिड़गिड़ाकर कहा, "उनलोगों ने गलत समझा था। मैंने हृदयराम को चले जाने को कहा था। आप यहीं रहिए।" इस किंचित् हास्य के साथ श्रीरामकृष्ण बिना कुछ कहे अपने कमरे की ओर लौट पड़े और वहाँ बैठकर भक्तों के साथ ईश्वरी चर्चा में फिर से यों लग गये मानो बीच में कुछ हुआ ही न हो। इधर भक्त मण्डली तो सकते में आ गयी थी और काफी समय तक सामान्य मानसिक स्थिति में न आ सकी।

ऐसे अलौकिक गुरु और गुरुभाई के योग्य ही थे शशि महाराज। श्रीठाकुर ने जबसे मात्र किताबी ज्ञान को धिक्कारा था, शशि महाराज की पढ़ाई-लिखाई में रुचि समाप्त हो गयी थी। उनका सम्पूर्ण हृदय पूजा-भक्ति पर केन्द्रित हो गया था। अब मद्रास में उन्हें धर्म-दर्शन के उपदेश देने को कहा गया। विशाल हृदय को अब विराट बुद्धि बनना पड़ा। शायद इसी क्रान्तिकारी परिवर्तन के

लिए नेता ने उन्हें मद्रास से बुलावा भेजा था। तीव्र बौद्धिकता और गहरी भक्ति का संयोग जितना अद्भुत है उतना ही असाधारण भी। पर अद्भुत् परमहंसदेव के सभी पार्षदों को अद्भुत् होना होगा या फिर कुछ भी नहीं, ऐसी स्वामीजी की टेक थी। फिर दक्षिण भारत को बुद्धि और भावना के ऐसे ही असामान्य सामन्जस्य की आवश्यकता थी और भाग्यवश बिल्कुल उस प्रदेश के अनुरूप मिल गये स्वामी रामकृष्णानन्द। आज रामकृष्ण मिशन दक्षिण भारत में सहस्रों लोगों को भावात्मक प्रश्रय दे रहा है जो मात्र धर्म ही दे सकता है। इस वृहत् कार्य के लिए उपयुक्त सुदृढ़ नींव शशि महाराज की ही दी हुई है।

स्वामी रामकृष्णानन्द सन् १८९७ में मद्रास पहुँचे। पहले वे "हिमालय" भवन के, जिसमें स्वामीजी अमरीका से लौटने पर रहे थे, निकट एक छोटे मकान में रहते थे। बाद को आप भी "हिमालय" भवन में ही रहने लगे। कुछ दिनों के उपरान्त जब 'हिमालय भवन' को मकान मालिक ने अचानक अपने कब्जे में ले लिया तो काफी समय तक शशि महाराज बहुतेरी असुविधाओं के बावजूद उस भवन के छोटे-से बाह्य आवास में रहे। जब इस भवन की नीलामी की जा रही थी तो कई भक्त मन-ही-मन प्रार्थना कर रहे थे कि भक्त समुदाय में से ही कोई उसे खरीद लें जिससे स्वामी रामकृष्णानन्द को असुविधा न हो और उनका प्रचार कार्य भी अबाध चलता रहे। जब-तक नीलामी बोल बोले जा रहे थे, शशि महाराज भवन प्राङ्गण के एक किनारे एक टूटी बेंच पर बैठे रहे। एक चिन्तातुर भक्त नीलामी के बोल सुनने में लगे थे और थोड़ी-थोड़ी देर पर महाराज जी को उसकी प्रगति की रिपोर्ट दे रहे थे। स्वामी रामकृष्णानन्द ने उनसे कहा, "तुम क्यों चिन्ता करते हो? भवन कौन खरीदता या बेचता है इसकी हमें क्या परवाह है? मेरी आवश्यकताएँ सीमित हैं। केवल गुरु महाराज के लिए मुझे एक छोटा कमरा चाहिए। मैं कहीं भी रहकर जीवन-भर मात्र उनकी बातों की चर्चा कर अपना समय बिता सकता हूँ।" शशि महाराज की अन्त तक, बाद में जब उन्हें असाधारण जन सम्मान मिला तब भी, यही मनोवृत्ति रही।

सन् १९०७ में पहली बार नगर के निकट एक छोटी जगह में मठ के लिए स्थायी भवन का निर्माण हुआ। इस साधारण एक मञ्जिले भवन में चार कमरे, एक विस्तृत हॉल, रसोई और बाह्य आवास थे। शशि महाराज को भवन के निर्माण से अत्यन्त प्रसन्नता हुई क्योंकि अब एक स्थायी जगह पर श्री ठाकुर की पूजा निर्बाध रूप से प्रतिदिन की जा सकती थी। "श्री रामकृष्ण के रहने के लिए यह एक बहुत सुन्दर भवन है।" शशि-महाराज ने भवन निर्माण के उपरान्त कहा, "यह जानकर कि वे स्वयं यहाँ विराज रहे हैं हमें इसे साफ और शुद्ध रखना चाहिए। हमें इसका ध्यान रखना होगा कि कीलें इत्यादि लगाने में भवन की दीवारें विद्रूप न हो जाएं।"

श्री ठाकुर की आराधना स्वामी रामकृष्णानन्द विलक्षण पद्धति से करते थे। आध्यात्मिक साधक ईश्वरानुभूति की कामना किया करता है। शशि महाराज के साथ बिल्कुल दूसरी ही बात थी। ईश्वर की समुपस्थिति की ऐसी स्पष्ट धारणा उन्हें सर्वदा रहती थी कि इस सन्दर्भ में उनके लिए और किसी कामना के लिए गुन्जाइश नहीं रह जाती थी। उनके लिए बच जाता था मात्र ईश्वर की अभ्यर्थना करना और ऐसा वे अविकल उत्साह से किया करते। श्री ठाकुर की सेवा शशि महाराज बिल्कुल ऐसे किया करते मानो वे सशरीर सेवा ग्रहण करने को विराजमान हों। कुछ पकवान गर्म पसंद की जाती हैं। शशि महाराज अंगीठी जलती रखकर ऐसी चीजें गर्मा-गर्म एक-एक कर श्री ठाकुर को निवेदित करते। श्री ठाकुर के दाँत माँजने के लिए नियम से प्रतिदिन प्रातः पिटे हुए छोर वाला गुलायम दातून चढ़ाते। अपराह्न में नैवेद्य चढ़ाने के उपरान्त कुछ देर तक श्री ठाकुर को पंखा झला करते जैसा कि उनके जीवनकाल में किया करते थे ताकि उन्हें शीघ्र झपकी आ जाय। गर्मी के दिनों में कभी-कभी अचानक आधी रात को उठकर मन्दिर के दरवाजे खोल श्री ठाकुर के लिए आप पंखा झला करते जिससे उनकी नींद में भयंकर गर्मी के कारण बाधा न हो। कभी वे गुरु महाराज से रूठकर उन्हें किसी छोटी बात के लिए प्रेममयी प्रतारणा भी देते। किसी

-सामान्य आलोचक मस्तिष्कवाले मनुष्य को यह सब अजीबोगरीब लग सकता है पर जिस दैवी उपस्थिति की अनुभूति उन्हें हर पल होती थी वह तो स्वामी रामकृष्णानन्द के सिवा दूसरा कोई क्योंकर जान सकता है! उनके ये आचार ऐसे सामान्य और अनायास हुआ करते थे कि प्रत्यक्षदर्शी को बरबस उनकी भावनाओं के लिए सद्भावना हो आती थी। एक बार एक उच्च राजकीय अधिकारी उनसे मिलने आये। उस समय सबेरे की पूजा समाप्त कर शशि महाराज श्री गुरु विग्रह को पंखा झल रहे थे। शिव गुरु, सत् गुरु, परम गुरु इत्यादि स्वगत उच्चारण करते हुए दो घण्टों तक आप पंखा झेलते रहे। इस क्रम में उनका मुख भाव से प्रदीप्त हो उठा और उनकी विशाल काया धीर गंभीर हो उठी। आगन्तुक सज्जन इस दृश्य से इतने प्रभावित हुए कि बस, शशि महाराज को लक्ष्यकर सिर नवा कर बिना बातें किये घर लौट गये।

स्वामी रामकृष्णानन्द की वृहत् निष्ठा के अनुकूल ही उनकी बौद्धिक पहुँच थी। संस्कृत में आपकी विद्वत्ता असाधारण थी। मद्रास में तमिल भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण कभी-कभी उन्हें सनातन पुरोहितों से संस्कृत में ही वार्तालाप करना पड़ता था। बँगला में आपका लिखा आचार्य रामानुज का जीवन चरित्र एक अधिकृत ग्रन्थ है और अबतक कई भाषाओं में अनूदित हो चुका है। हिन्दू शास्त्रों के अतिरिक्त ईसाई और इस्लाम धर्मग्रन्थों का उनका ज्ञान भी अप्रतिम था। बाइबिल का आपने आद्यन्त अध्ययन किया था और उसके उपदेशों पर आपके व्याख्यान कट्टर ईसाई पन्थियों में भी आपके लिए सम्मान का भाव ला देते थे। गुडफ्राइडे के दिन एक बार प्रभु यीशु के बलिदान पर आपने इतना भावपूर्ण और जीवन्त भाषण दिया कि एक पाश्चात्य श्रोता, जिन्हें गिरजों के धर्मोपदेशों का अनुभव था, विस्मित रह गये कि यीशु के सम्बन्ध में एक हिन्दू स्वामी के शब्द भी इतने सजीव हो सकते हैं! यद्यपि शशि महाराज की दिन-चर्या सर्वथा एक सनातनधर्मी हिन्दू की तरह थी फिर भी दूसरे धर्मों के मसीहों के लिए आपको सच्चा प्रेम था। और कभी-कभी तो आपके सनतानधर्मी भक्तों के लिए यह आश्वस्तिकारक हो जाता था। जिन्होंने स्वामी रामकृष्णानन्द को मद्रास में सन्त थॉमस के गिरजे में जाते देखा था वे बताते हैं कि गिरजे में आप ईसाइयों की तरह सीधे वेदी तक जाकर घुटनों के बल बैठ प्रार्थना किया करते।

एक संध्या को वर्षा में घिरे कुछ मुसलमान विद्यार्थियों ने मठ में आश्रय लिया। शशि महाराज ने उनका हार्दिक स्वागत किया और जबतक वे रहे उनसे इस्लाम की चर्चा की। उनकी बातें इतनी प्रभावशाली थीं कि मठ में टिकने के बहुत दिनों बाद तक विद्यार्थी इसकी चर्चा किया करते।

मद्रास में अपने आवास काल में शशि महाराज लगातार कठोर परिश्रम करते रहे। आरम्भ में तो वे अपना भोजन स्वयं पकाते, मन्दिर में पूजा करते और नगर के विभिन्न भागों में धार्मिक विषयों पर व्याख्यान देते और इस सबके बाद भी प्रफुल्लचित्त बने रहते। यह पूछने पर कि अपनी निजी आवश्यकताएँ वे कैसे पूरी करते हैं, शशि महाराज कहा करते "परमात्मा मेरी जरूरत की हर चीज मुझे उपलब्ध करा देता है।" वे और भी कहते, "यदि सहायता के बिना रहना बिलकुल दुश्वार हो जाय तो किसी अन्य के पास जाने के बदले परमात्मा से ही क्यों न प्रार्थना की जाय?" कई अवसर पर सचमुच अप्रत्याशित स्रोतों से स्वामी के पास सहायता आ पहुँचती थी। एक बार श्रीरामकृष्ण की जन्म तिथि निकट आ पहुँची थी और जन्मोत्सव के मुख्य कार्यक्रम दरिद्रनारायण के भोजन के लिए राशि की व्यवस्था नहीं हो पायी थी। आधी रात को मठ के मुख्य हॉल से आती अस्फुट आवाज के कारण मठ में सोये एक भक्त की नींद खुल गयी। इधर-उधर झांकने पर उन्होंने देखा कि मुख्य हाल में शशि महाराज पिंजड़े के शेर की तरह चहल कदमी करते हुए जोर-जोर से कुछ बुदबुदा रहे थे। उन्हें उस स्थिति में देखकर भक्त भयभीत हो गये पर बाद में उन्हें मालूम हुआ कि शशि महाराज उस समय दरिद्रनारायण की सेवा के लिए सहायता की प्रार्थना कर रहे थे। दूसरे ही दिन मैसूर के युवराज के यहाँ से पर्याप्त धनराशि प्रातःकाल को सहायतार्थ आ पहुँची। परमात्मा की इस अहेतुकी कृपा से सभी भक्त

निवासी विस्मित रह गये। यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि मैसूर के युवराज ने स्वामी रामकृष्णानन्द की पुस्तक "मनुष्य और ब्रह्माण्ड" पढ़ी थी और उससे विशेष प्रभावित हुए थे।

धार्मिक कक्षा या व्याख्यानों में शशि महाराज कभी ऐसा आभास नहीं होने दिया करते कि आप श्रोताओं से किसी अर्थ में ऊँचे या वरिष्ठ हैं। वे सर्वदा स्वयं को प्रभु का मामूली सेवक मानते रहे। कभी-कभी व्याख्यानादि से मठ लौटने पर वे श्रीठाकुर से प्रार्थना किया करते कि उपदेशादि कार्यों से उन्हें अहंकार न हो। कक्षाओं में उनके विचित्र अनुभव भी हुआ करते और परिस्थिति का सामना भी वे उतने ही विचित्र तरीकों से करते। प्रारम्भिक उत्साह शान्त होने के उपरान्त धर्मोपदेश की उनकी कक्षाओं में कभी-कभी समुचित संख्या में श्रोता नहीं रहा करते थे। यह इस पर भी निर्भर करता था कि कक्षाएँ नगर के किस भाग में आयोजित की जा रही हैं। कभी यदि किसी कारणवश कक्षा में एक भी जिज्ञासु भक्त न रहा, तब भी शशि महाराज खाली कक्षा में ही व्याख्यान देने से चूकते न थे या फिर व्याख्यान के लिए निर्धारित समय को ध्यानादि में वहीं बिताते। प्रत्यक्षतः इस असामान्य व्यवहार का कारण पूछने पर आप उत्तर देते, "मैं यहाँ दूसरों को उपदेश देने को नहीं आया। यह कार्य मेरे लिए एक तप सदृश है और कक्षा में किसी के आने या न आने से मेरी तपश्चर्या में कोई बाधा नहीं होती।"

जब भी उनके गुरुभाइयों में से कोई दक्षिण भारत आता तो शशि महाराज की खुशी का ठिकाना न रहता और उनके सत्कार में कुछ भी आप उठा न रखते थे।

मद्रास में रामकृष्ण मिशन छात्रगृह की स्थापना शशि महाराज के प्रेमवश हुई। कोयम्बटूर में एक बार भयंकर महामारी में कुछ असहाय बच्चों को छोड़ एक सम्पूर्ण परिवार काल के गाल में चला गया। शशि महाराज के सदय ओर स्वभावतः प्रेमपूर्ण हृदय के लिए बच्चों की दशा असह्य हो गयी और आपने उन्हें अपने संरक्षण में ले लिया। दक्षिण में मिशन के शैक्षणिक कार्यकलाप की शुरुआत यहीं से हुई। आज तो यह काम वहाँ अत्यन्त विस्तृत स्तर पर होने लगा है। एक गुरु के रूप में शशि महाराज उदासीन शिष्यों का विशाल समुदाय तैयार करने की अपेक्षा गिने चुने उत्साही शिष्यों का जीवन बनाने में अधिक प्रयत्नशील रहते थे। वे कठोर अनुशासन के पक्षधर थे और चाहते थे कि उनके प्रभाव में आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति हर क्षेत्र में आदर्श उपस्थित करे। एक बार उनकी कक्षा में एक छात्र हथेली पर गाल रखे बैठा था। उन्होंने उसे तुरन्त टोका। कभी-कभी मठ में आये अतिथिगण आम आदत के अनुसार आश्रम में अखबार खोलकर बैठ जाते। शशि महाराज उन्हें भी स्पष्ट कहते, "अपना अखबार एक ओर रखो। वह तुम कहीं भी पढ़ सकते हो। यहाँ आकर ईश्वर चिन्तन किया करो।" एक बार एक घमण्डी पण्डित मठ में आकर जनहित और समाज सुधार के अपने कार्यों के विस्तृत विवेचन में लग गये। शशि महाराज ने थोड़ी देर तक तो उनकी आत्मश्लाघा चुपचाप सुनी फिर कहा, "पता नहीं आपके जन्म के पूर्व ईश्वर संसार का काम कैसे चलाते होंगे।" पण्डित जी तुरन्त चुप हो गये पर उनकी आँखें हमेशा के लिए खुल गयीं। एक बार स्वामी रामकृष्णानन्द एक अमरीकी भक्त के साथ मैसूर के महाराजा के राजकीय अतिथि गृह में बंगलोर में ठहरे थे। किसी दिन महाराजा के दरबार के कोई उच्च अधिकारी उनसे मिलने आये और जल्दी ही अमरीकी भक्त के साथ किसी दरबारी किस्से में यह सोचकर लग गये, कि इससे राजकीय अतिथियों का मनोरञ्जन होगा। जबतक यह चर्चा चलती रही, शशि महाराज अपनी कुर्सी पर बेचैनी से स्थिति बदलते रहे। जब उन सज्जन ने पूछा कि कहीं उन्हें कोई कष्ट तो नहीं, तब महाराज जी ने दो टूक उत्तर दिया, "नहीं, मुझे कोई कष्ट नहीं। पर आपकी संसार—चर्चा मुझे रास नहीं आ रही।" राजकीय अधिकारी महोदय ने भी इस फटकार का बुरा नहीं माना और दूसरे उपयुक्त विषय पर परिचर्चा प्रारम्भ कर दी।

यद्यपि मठ के प्रबन्ध में शशि महाराज कठोर अनुशासन प्रिय थे फिर भी उनका हृदय अत्यन्त कोमल

और सदय था। मठ के एक कनिष्ठ संन्यासी को जब मद्रास छोड़कर कहीं और जाना पड़ा तो विदा की वेला में आप फूट-फूट कर रो पड़े।

अन्तकाल में स्वामी रामकृष्णानन्द का स्वास्थ्य गिर गया था और मिशन के अध्यक्ष की इच्छा से आप मद्रास से कलकत्ता के बाग बाजार में आ गये। यहाँ बड़े-बड़े चिकित्सकों की देख-रेख में आपकी सेवा सुश्रूषा हुई। पर आपका स्वास्थ्य गिरता गया। ऐसी क्लान्त शारीरिक स्थिति में भी आपकी आध्यात्मिक चर्चा वैसी ही दिव्य हुआ करती। इन दिनों एक प्रिय भक्त ने जब आपको शरीर का ख्याल कर आध्यात्मिक चर्चाएँ कम कर देने को कहा तो आपने उत्तर दिया, "ऐसा क्यों ? मैं जब ईश्वर चर्चा में लग जाता हूँ तब शरीर को भूल जाता हूँ और शारीरिक कष्ट भी तब मुझे नहीं सताता" २१ अगस्त, १९११ को स्वामी रामकृष्णानन्द ने महासमाधि ले ली।

जीवन कथा

श्री सारदा देवी

—स्वामी वेदान्तानन्द

पंचम अध्याय

संन्यासी की परीक्षा

कठोर तपस्वी कहने से साधारणतः हमलोग जैसा समझते हैं, श्रीरामकृष्ण यदि उसी तरह के तपस्वी होते तो वे सारदा देवी का मुँह भी नहीं देखना चाहते—उनके आने के साथ-साथ उन्हें विदा करा देते। और यदि उनमें उस प्रकार मन की प्रबल शक्ति नहीं होती तो साधन-भजन सब छोड़कर संसार में डूब जाते। किन्तु श्रीरामकृष्ण तो साधारण मनुष्य थे नहीं। स्वभावतः इन दोनों तरह की सम्भावनाओं में से एक भी उनके लिए स्वीकारने योग्य नहीं हुई।

सारदा देवी के दक्षिणेश्वर आने के कुछ ही दिनों बाद श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा—'क्या जी, तुम मुझे सांसारिक पथ पर खींचने के लिए आयी हो ?' उन्होंने उनसे (श्रीरामकृष्ण से) उत्तर के रूप में कहा—'नहीं, मैं तुम्हें सांसारिक पथ में क्यों खींचने जाऊँगी ? तुम्हारे इष्ट पथ में ही तुम्हें सहायता करने आयी हूँ।' इस एक बात से ही यह तथ्य समझ में आता है कि कई वर्ष पहले कामारपुकुर में श्रीरामकृष्ण ने उन्हें साधन-भजन और ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण के सम्बन्ध में जो शिक्षा दी थी, वह शिक्षा व्यर्थ नहीं गयी; इन कई वर्षों की नीरव साधना से उन्होंने अपने को अपने पति की उपयुक्त सहधर्मिणी के रूप में गठित कर लिया था।

सारदा देवी का इस प्रकार का उत्तर सुनकर श्रीरामकृष्ण आश्वस्त हुए। उन्होंने एक बार एक समय जगन्माता के सामने प्रार्थना की थी—'माँ मेरी पत्नी का मन एक बारगी पवित्र कर दो।' इस समय उन्होंने जाना कि जगन्माता ने उनकी वह प्रार्थना पूरी की है।

जिन्हें यथार्थ ज्ञान हुआ है वे हर समय देखते हैं कि संसार के सभी स्थानों में समस्त प्राणियों के बीच एक ही आत्मा विद्यमान रहती है। उनमें स्त्री-पुरुषों के बीच कोई और भेद—ज्ञान नहीं रह जाता है। वे इस संसार में प्रलोभन के, मन की चंचलता के, उत्पन्न होने का कारण और किसी वस्तु में नहीं देख पाते हैं। फलतः किसी से उनके मन की शान्ति नष्ट नहीं हो पाती है। ये सारी बातें बहुत दिन पहले ही संन्यास लेने के समय श्रीरामकृष्ण ने अपने गुरु तोतापुरी के मुख से सुनी थी। गुरु के स्वयं उपयाचक होकर उन्हें संन्यास देने

की इच्छा व्यक्त करने पर श्रीरामकृष्ण ने कहा कि वे विवाहित हैं और स्त्री जीवित है। गुरु ने उत्तर दिया—"इससे क्या आता-जाता है! स्त्री के निकट उपस्थित रहने पर भी जिसके त्याग-विवेक-वैराग्य की थोड़ी भी हानि न हो, जिसका मन थोड़ा भी चंचल न हो, वही व्यक्ति तो ठीक-ठीक ज्ञानी है, उसे ही यथार्थ ब्रह्मदर्शन होता है। स्त्री-पुरुष के बीच जब तक भेदज्ञान है तब-तक साधक को ब्रह्मज्ञान नहीं होता।' श्रीरामकृष्ण ने युवती पत्नी को अपने समीप रखकर देखना चाहा कि उन्हें यथार्थ ज्ञान हुआ है या नहीं, इस दीर्घ काल की उनकी साधना सिद्ध हुई है या नहीं?

श्रीरामकृष्ण के जीवन में थी एक प्रबल जिद। जब जो काम वे शुरू करते उसे अच्छी तरह समाप्त किये बिना कुछ छोड़ते नहीं। ये सारी बातें मन में आने के साथ-साथ उन्होंने अपनी धर्मपत्नी को इच्छानुसार अपनी सेवा करने का अधिकार दिया। केवल यही नहीं, उन्हें सात-आठ महीनों तक रात्रि-काल में अपने साथ एक बिछावन पर सोने भी दिया। किन्तु, श्रीरामकृष्ण का मन किसी वस्तु से संसार के जाल में फंसनेवाला नहीं था। सारी रात उनका मन समाधि में डूबकर भगवान के भाव में विभोर रहता था; बीच-बीच में होश आने पर भी साधारण विषयों में साधारण मनुष्य की भांति उनका मन किसी देह-भोग की ओर आकृष्ट नहीं होता था।

उस समय श्रीरामकृष्ण के बिछावन पर श्रीसारदा देवी की रातें किस प्रकार कटती थीं, यह बात उनकी अपनी भाषा में ही सुनिए। "सो किस अपूर्व दिव्य भाव में वे (श्रीरामकृष्ण) रहते थे, उसे कहकर नहीं समझाया जा सकता। कभी घोर भाव में कितनी क्या बातें बोलते; कभी हँसते, कभी रोते, कभी समाधि में एकाएक स्थिर हो जाते—इसी प्रकार सारी रात बीतती। वह क्या एक आविर्भाव है, क्या एक आवेश है! देखकर भय से मेरा सारा शरीर कांपने लगता, और मैं सोचने लगती, कब रात बीतेगी? भाव समाधि की बात तब तो मैं कुछ समझती नहीं थी। एक दिन उनकी समाधि नहीं टूटती देखकर भय से रोती हुई मैंने भाई को हृदय को बुलाने भेजा। उसने आकर, कान में नाम सुनाना शुरू किया, तब काफी देर के बाद उनकी चेतना लौटी। इसके बाद इस प्रकार भय से कष्ट पाते देखकर उन्होंने स्वयं सिखा दिया—'इस प्रकार का भाव देखने पर यह नाम (काली, कृष्ण आदि का) सुनाना, इस प्रकार का भाव देखने पर यह 'बीज' (मंत्र) सुनाना।' तब और इतना भय नहीं होने लगा। यह सब सुनाने पर उन्हें फिर होश हो जाता। ठाकुर द्वारा बीज और नाम कह देने पर भी कब उन्हें भाव हो आयगा, समाधि हो जायगी—इस विचार—भय से और भी नहीं पाती थी। एक दिन यह बात जान लेने पर उन्होंने मुझे नहबत में सास के समीप सोने कहा।" श्रीरामकृष्ण की माता चन्द्रमणि तब दक्षिणेश्वर के मन्दिर से संलग्न नहबत के घर में वास करती थीं।

स्वामी के समीप आकर सारदा देवी ने उनकी हृदय हारी प्रीति और श्रद्धा पायी। एक साथ ही ऐसी प्रीति और श्रद्धा किसी समय, किसी नारी के भाग्य में उपलब्ध थी या कभी होगी कि नहीं, इसमें सन्देह है। एक दिन रात्रि काल में अपने पतिदेव के पाँव दबाते-दबाते उन्होंने पतिदेव से जिज्ञासा कर दी "मेरे प्रति आपके मन में क्या भाव है?" तुरंत ही सहज भाव में उत्तर आया—'जो मां मन्दिर में हैं, उन्होंने ही इस शरीर को जन्म दिया है और अभी नहबत में वास कर रही हैं और वे ही अभी मेरी पद-सेवा कर रही हैं।" साधना के फल से श्रीरामकृष्ण की ऐसी शुद्ध दृष्टि हो गयी थी।

और यह बात भी सही है कि सारदा देवी का जीवन भी अत्यंत शुद्ध और हर तरह से देह के भोग-सुख की इच्छा से मुक्त था, जिससे श्रीरामकृष्ण कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण हो पाये थे। सारदा देवी के चरित्र के महत्त्व के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने अपने श्रीमुख से कहा है—'वे यदि इतनी अच्छी नहीं होतीं तो मुझमें संसार के सुख—भोग की इच्छा होती कि नहीं कौन कह सकता है!' (क्रमशः)

विवेक वाणी

पवित्रता

पवित्रता ही स्त्री और पुरुष का सर्वप्रथम धर्म है। ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं हो कि एक पुरुष—वह चाहे जितना भी पथ-भ्रष्ट क्यों न हो गया हो—अपनी नम्र, प्रेमपूर्ण तथा पतिव्रता स्त्री द्वारा ठीक रास्ते पर न लाया जा सके। संसार अभी भी उतना गिरा नहीं है। हम बहुधा संसार में बहुत से निर्दय पतियों तथा पुरुषों के भ्रष्टाचरण के बारे में सुनते रहते हैं; परन्तु क्या यह बात सच नहीं है कि, संसार में उतनी ही निर्दय तथा भ्रष्ट स्त्रियां भी है ? यदि सभी स्त्रियाँ इतनी शुद्ध और पवित्र होतीं; जितना कि वे दावा करती हैं, तो मुझे पूरा विश्वास है कि समस्त संसार में एक भी अपवित्र पुरुष न रह जाता। ऐसा कौन सा पाशविक भाव है, जिसे पवित्रता और सतीत्व पराजित नहीं कर सकते ? एक शुद्ध पतिव्रता स्त्री, जो अपने पति को छोड़कर अन्य सब पुरुषों को पुत्रवत् समझती है तथा उनके प्रति माता का भाव रखती है, धीरे-धीरे अपनी पवित्रता की शक्ति में इतनी उन्नत हो जायगी कि एक अत्यन्त पाशविक प्रवृत्तिवाला मनुष्य भी उसके सान्निध्य में पवित्र वातावरण का अनुभव करेगा। इसी प्रकार प्रत्येक पति को, अपनी स्त्री को छोड़कर अन्य सब स्त्रियों को अपनी माता, बहन अथवा पुत्री के समान देखना चाहिए। विशेषकर उस मनुष्य को, जो धर्म का प्रचारक होना चाहता है, यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक स्त्री को मातृवत् देखे और उसके साथ सदैव तद्रूप व्यवहार करे।

प्रेम

इहलोक या परलोक में पुरस्कार की प्रत्याशा से ईश्वर से प्रेम करना बुरी बात नहीं, पर केवल प्रेम के लिए ही ईश्वर से प्रेम करना सबसे अच्छा है, और उसके निकट यही प्रार्थना करनी उचित है, 'हे भगवान्, मुझे न तो सम्पत्ति चाहिए, न सन्तति, न विद्या। यदि तेरी इच्छा है, तो सहस्त्रों बार जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ूँगा, पर हे प्रभो, केवल इतना ही दे कि मैं फल की आशा छोड़कर तेरी भक्ति करूँ, केवल प्रेम के लिए ही तुझ पर मेरा निःस्वार्थ प्रेम हो।' कृष्ण के एक शिष्य उस समय भारत के सम्राट् थे। उनके शत्रुओं ने उन्हें राजसिंहासन से च्युत कर दिया था और उन्हें अपनी साम्राज्ञी के साथ हिमालय के जंगल में आश्रय लेना पड़ा था। वहाँ एक दिन साम्राज्ञी ने उनसे प्रश्न किया, "मनुष्यों में सर्वोपरि पुण्यवान् होते हुए भी आपको इतना दुःख क्यों सहना पड़ता है ?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "महारानी, देखो, यह हिमालय कैसा भव्य और सुन्दर है ! मैं इससे प्रेम करता हूँ। यह मुझे कुछ नहीं देता; पर मेरा स्वाभाव ही ऐसा है कि मैं भव्य और सुन्दर वस्तु से प्रेम करता हूँ। उसी प्रकार मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ। वह अखिल सौन्दर्य, समस्त सुषमा का मूल है। वही एक ऐसा पात्र है, जिससे प्रेम करना चाहिए। उससे प्रेम करना मेरा स्वभाव है और इसीलिए मैं उससे प्रेम करता हूँ। मैं किसी बात के लिए उससे प्रार्थना नहीं करता, मैं उससे कोई वस्तु नहीं माँगता। उसकी जहाँ इच्छा हो, मुझे रखे। मैं तो सब अवस्थाओं में केवल प्रेम के लिए ही उस पर प्रेम करना चाहता हूँ, मैं प्रेम में सौदा नहीं कर सकता।"

—**स्वामी विवेकानन्द**

(अद्वैत आश्रम, ५ डिही एण्टाली रोड, कलकत्ता १४ द्वारा प्रकाशित विवेकानन्द साहित्य : तृतीय खण्ड से साभार)

श्रीमती गंगा देवी द्वारा रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा से प्रकाशित एवं श्रीकान्त लाभ द्वारा जनता प्रेस, नया टोला, पटना—४ में मुद्रित। सम्पादक- डॉ० केदारनाथ लाभ।